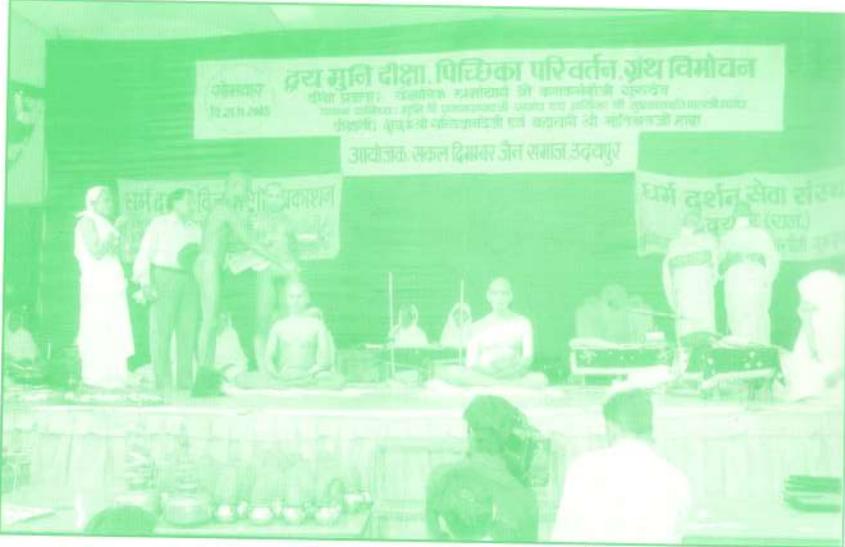


समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या



लेखक
वैज्ञानिक धर्मचार्य श्री कनकनंदी जी



आचार्य श्री कनकनंदी द्वारा मुनि सच्चिदानन्द एवं मुनि चिन्मयानन्द को दीक्षा प्रदान करते हुए।
इस कार्यक्रम में दि. जैन, श्रे. जैन के विभिन्न पंथ मत के अनेक साधु संत-साधी के
साथ-साथ उनके अनुयायी तथा अनेक प्रदेशों के तीस पैंतीस हजार दर्शकों ने और
मंत्री नेताओं ने भाग लिया। (उदयपुर (राज.) 2005)



आचार्य श्री के साहित्यों का विमोचन करते हुए किरीट दफ्तरी (अध्यक्ष जैना अमेरिका)
प्रोफेसर डॉ. प्रेमसुमन जैन, वैज्ञानिक पारसमल अग्रवाल, प्रो. हुनुमान प्रसाद वर्डिया,
डॉ. नारायणलाल कच्छारा, किर्ति कुमार शाह, पवन गोवाडिया आदि।
(सागवाडा (राज.)

समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या

लेखक :- वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

ग्रंथाङ्क - 41

संवर्धित, संशोधित तृतीय संस्करण - 2006

प्रतियाँ - 1000

मूल्य - 25/- रुपये (पुनः प्रकाशनार्थे)

मुद्रांकन/शब्द रचना :- मुनि सच्चिदानन्द (संघस्थ आ. कनकनंदी जी)

ज्ञानदाता

१. स्व. प्रो. श्री रघुवीर सिंह जैन

(धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान के कार्यकर्ता) की पुण्य स्मृति में
श्रीमती बिमला देवी जैन

पुत्र - श्री अनिल कुमार जैन, श्री पंकज कुमार जैन, श्री दीपक कुमार जैन
अम्बाविहार, मुजफ्फर नगर (उत्तर प्रदेश) की ओर से

२. सुश्री चार्वी भोरावत के जन्मदिवस के उपलक्ष में

माता - तनन्ना, पिता - नितिन सज्जनलाल (दुबई) की ओर से (उदयपुर)

प्राप्ति स्थान :-

धर्म दर्शन सेवा संस्थान,

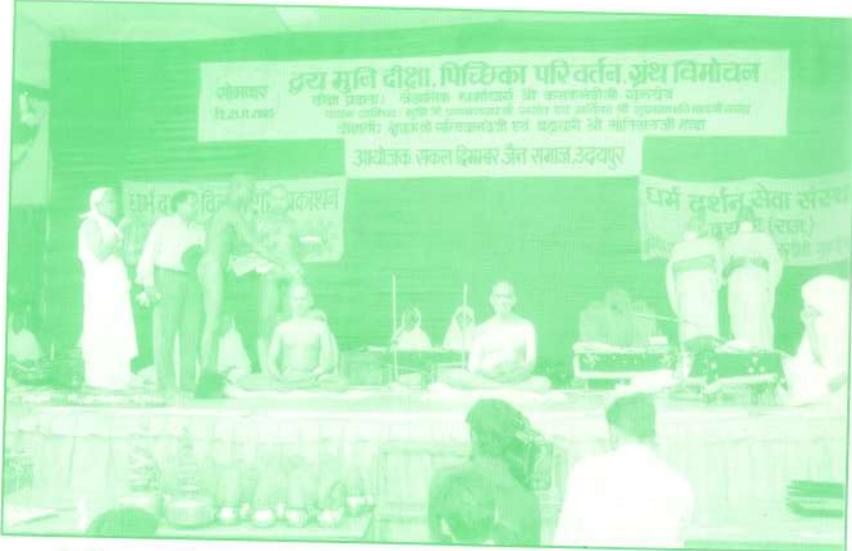
द्वारा - छोटूलाल चित्तौड़ा,

चंद्रप्रभ दि. जैन मंदिर आयड, आयड बस-स्टॉप के पास,

उदयपुर - 313001 (राज.)

फोन नं. :- (0294) 2413565, 5561114

मुद्रक : सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर, फोन : 0294-3295406



आचार्य श्री कनकनंदी द्वारा मुनि सच्चिदानंद एवं मुनि चिन्मयानंद को दीक्षा प्रदान करते हुए।
इस कार्यक्रम में दि. जैन, श्वे. जैन के विभिन्न पंथ मत के अनेक साधु संत-साधी के
साथ-साथ उनके अनुयायी तथा अनेक प्रदेशों के तीस पैंतीस हजार दर्शकों ने और
मंत्री नेताओं ने भाग लिया। (उदयपुर (राज.) 2005)



आचार्य श्री के साहित्यों का विमोचन करते हुए किरीट दफतरी (अध्यक्ष जैना अमेरिका)
प्रोफेसर डॉ. प्रेमसुन जैन, वैज्ञानिक पारसमल अग्रवाल, प्रो. हुनुमान प्रसाद बर्डिया,
डॉ. नारायणलाल कच्छारा, किर्ती कुमार शाह, पवन गोवाडिया आदि।
(सागवाडा (राज.)

समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या

लेखक :- वैज्ञानिक धर्मचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

ग्रन्थाङ्क - 41

संबर्धित, संशोधित तृतीय संस्करण - 2006

प्रतियाँ - 1000

मूल्य - 25/- रुपये (पुनः प्रकाशनार्थे)

मुद्रांकन/शब्द रचना :- मुनि सच्चिदानंद (संघस्थ आ. कनकनंदी जी)

ज्ञानदाता

१. स्व. प्रो. श्री रघुवीर सिंह जैन

(धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान के कार्यकर्ता) की पुण्य स्मृति में
श्रीमती बिमला देवी जैन

पुत्र - श्री अनिल कुमार जैन, श्री पंकज कुमार जैन, श्री दीपक कुमार जैन
अम्बाविहार, मुजफ्फर नगर (उत्तर प्रदेश) की ओर से

२. सुश्री चार्वी भोरावत के जन्मदिवस के उपलक्ष में

माता - तनना, पिता - नितिन सज्जनलाल (दुबई) की ओर से (उदयपुर)

प्राप्ति स्थान :-

धर्म दर्शन सेवा संस्थान,

द्वारा - छोटूलाल चितौडा,

चंद्रप्रभ दि. जैन मंदिर आयड, आयड बस-स्टॉप के पास,

उदयपुर - 313001 (राज.)

फोन नं. :- (0294) 2413565, 5561114

मुद्रक : सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर, फोन : 0294-3295406

आशीर्वाद

वर्तमान काल बड़ा निकृष्ट है, प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानशून्य होता जा रहा है। ज्ञान विना व्यक्ति एक प्रकार का अंधा होता है। उस को चर्म चक्षु तो रहती है किंतु ज्ञान चक्षु नहीं रहती। जीव स्वार्थवश कुछ करना ही नहीं चाहता, दूसरों को सिखाना चाहता है लेकिन स्वयं नहीं सीखना चाहता, इसलिए ज्ञान की वृद्धि नहीं होती, पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत बढ़ रहा है लेकिन सभ्यता नहीं आ रही है, विनय नहीं आ रहा है। जिधर देखो उधर अशांति का वातावरण है। ऐसे अशांति के वानावरण में विज्ञान के साथ में धर्म की परम आवश्यकता है और वैसी पुस्तकें भी चाहिए। पुस्तकें तो बहुत हैं लेकिन धार्मिक एवं विज्ञान परक नहीं हैं इसलिए हमारे आचार्य कनकनंदी जी सद्साहित्य का प्रसार हो इस भावना से पुस्तकें लिख रहे हैं। यह एक सदपुरुषार्थ है, जीवों के उपकारी है, ज्ञानवृद्धि का कारण है। आप के सामने अच्छा-अच्छा साहित्य आ रहा है, आपके साहित्य की सब जगह प्रशंसा हो रही है, बहुत अच्छी बात है। महाराज श्री के साहित्य को सब लोगों को खूब पढ़ना चाहिए। वास्तव में अबाल-वृद्धों के पढ़ने लायक है। वर्तमान विज्ञान युग में इस प्रकार के साहित्य की परम आवश्यकता है। वस्तु-स्वरूप क्या है? लोगों को मालूम ही नहीं है। कनकनंदीजी के ऐसे साहित्य की बहुत आवश्यकता है। अब आपके सामने एक और पुस्तक आ रही है। इस पुस्तक का नाम समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या पुस्तक बहुत अच्छी है। इस पुस्तक में तप की अच्छी व्याख्या की गई है। लेखक को मेरा आशीर्वाद है। इस पुस्तक को लघवाने वाले द्रव्यदाता को भी मेरा आशीर्वाद है। आप इसी तरह अपने द्रव्य का सदुपयोग सद्साहित्य के प्रचार-प्रसार में लगाते रहे ऐसा मेरा आशीर्वाद है। लेखन कार्य में सहयोग करने वाले साधु, साध्वी, बालिकायें, लेक्चरार, प्रोफेसरों को मेरा मङ्गलमय आशीर्वाद। वे सभी सत्य धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए पूर्ण सत्य स्वरूप बने यह मेरी वीर प्रभु से कामना है।

गणधराचार्य
कुंथुसागर जी महाराज

शुभाशीर्वाद

सूर्य अनादि काल से अविराम गति से अपने गति-पथ में प्रकाश एवं ताप को बिखेरता हुआ गमन करता है, इसलिए सूर्य को तपन भी कहते हैं। यदि सूर्य अविराम गति से गमन नहीं करेगा तो उसका पतन होना अनिवार्य है, यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है। इसी प्रकार जो तप, त्याग, ज्ञान, वैराग्य के पथ पर सतत गमन नहीं करेगा उसका भी पतन अनिवार्य है। तपन शब्द को यदि परिवर्तित करके लिखा जायेगा तो पतन शब्द निर्मित होगा जो कि उपर्युक्त सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है। तप का सीधा-साधा अर्थ आत्मोन्नति के लिए श्रम करना, परिश्रम करना, पुरुषार्थ करना, प्रयन्त करना। बाह्य द्रव्य के आलंबन से जो श्रम किया जाता है उसे बाह्य तप एवं अंतरङ्ग आलंबन से जो श्रम किया जाता है उसे अंतरङ्ग तप कहते हैं। परंतु दोनों तप में भाव विशुद्धि होना अनिवार्य है नचेत् वह तप न रहकर बाह्य आडम्बर, शुष्क साधन, शरीर पीड़न के साथ-साथ पतन का भी कारण बन सकता है। इन उपर्युक्त सिद्धान्तों का ही “समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या” पुस्तक में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ रूपी मधुकोष में जो आयुर्वेद, मनोविज्ञान एवं प्राकृतिक-चिकित्सा सिद्धान्त रूपी मधु है वह पूर्व जैन, बौद्ध, हिंदू आचार्य कृत ग्रन्थपृष्ठों से संग्रहित किया गया है। इस संग्रह में मैंने केवल मधुमक्षिका के समान ही कार्य किया है। इसलिए इस कृति के कर्ता तो पूर्वाचार्य ही है।

इस कृति का प्रकाशन का भार स्व. प्रो. श्री रघुवीर सिंह जैन (धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान के कार्यकर्ता) की पुण्य स्मृति में श्रीमती बिमला देवी जैन पुत्र - श्री अनिल कुमार जैन, श्री पंकज कुमार जैन, श्री दीपक कुमार जैन अम्बाविहार, मुजफ्फर नगर (उत्तर प्रदेश) की ओरसे स्वेच्छा से वहन किया है। द्रव्यदाता, सहायक, धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, बडौत एवं धर्म दर्शन सेवा संस्थान, उदयपुर के समस्त कार्यकर्ताओं को मेरा धर्मवृद्धि आशीर्वाद।

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी

| विषय सूची | |
|---|--------------|
| | पृष्ठ संख्या |
| अध्याय | |
| 1) समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या | 06 |
| तपस्या : धार्मिक - वैज्ञानिक - आयुर्वेदिक दृष्टि से | |
| 2) तप की परिभाषा | 13 |
| बाह्य तप के भेद | 13 |
| 1) अनशन तप | 13 |
| 2) अल्पाहार (अवमौदर्य) तप | 14 |
| 3) भोजन नियमन (वृत्तिपरिसंख्यान) तप | 17 |
| 4) रसासक्ति त्याग (रस परित्याग) तप | 18 |
| 5) शरीर नियंत्रण (कायकलेश) तप | 19 |
| 6) एकांतवास (विविक्त शयनासन) तप | 20 |
| अंतरङ्ग तप के भेद | |
| 1) कृत दोष शोधन (प्रायश्चित्त-वित्तशोधन) तप | 21 |
| प्रायश्चित्त तप के दस भेद | |
| 1) स्व दोष प्रकाशन (आलोचना) प्रायश्चित्त | 22 |
| 2) पश्चात्ताप (प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त | 23 |
| आत्मनिंदा से बना मुनि | 24 |
| पश्चातापात् फलशुचिति | 26 |
| भाव परिष्कार सही उपचार | 27 |
| उभय प्रायश्चित्त | 32 |
| विवेक प्रायश्चित्त | 32 |
| काय-ममत्व त्याग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त | 32 |
| तप (कायेन्द्रिय दमन) | 33 |
| संयमकाल हास (छेद) प्रायश्चित्त | 34 |
| संपूर्ण संयम काल विच्छेद (मूल) प्रायश्चित्त | 34 |
| परिहार (अनवस्थाप्त और पारथिक) प्रायश्चित्त | 34 |
| श्रद्धान प्रायश्चित्त | 35 |
| विनय का स्वरूप | 35 |
| 1) दर्शन विनय | 35 |

| | |
|--|-----------|
| 2) ज्ञान विनय | 36 |
| 3) ज्ञान की विशेषता | 36 |
| 4) चारित्र विनय का स्वरूप | 37 |
| 5) औपचारिक विनय | 38 |
| 6) कायिक विनय का स्वरूप | 38 |
| 7) वाचिक विनय का स्वरूप | 39 |
| 8) मानसिक विनय का स्वरूप | 40 |
| 9) वाचिक और मानसिक विनय के भेद | 41 |
| 10) विनय करने योग्य व्यक्ति | 42 |
| 11) विनय की आवश्यकता | 42 |
| 12) विनय फल सर्वकल्याण | 42 |
| सेवा वैयावृत्य तप | 43 |
| परोपकार (सेवा, वैयावृत्य) से सर्वोदय | 43 |
| स्व-अध्ययन (स्वाध्याय) तप | 52 |
| सतत अध्ययन शीलता से लाभ | 53 |
| मनैकेंद्रियकरण (ध्यान) तप | 60 |
| 3) श्वेताम्बर जैन साहित्य में तप | 61 |
| 4) बौद्ध धर्म में वर्णित तप | 67 |
| तप का महात्म्य | 67 |
| कामना का दमन | 68 |
| तप से भिक्षुक हुआ चंद्रगुप्त | 70 |
| तप से मांसभक्षी हुआ देव | 72 |
| तप से चांडाल हुआ देव | 73 |
| 5) परम आत्म शोधन-साम्यभाव, पर्यावरण | 76 |
| संरक्षण, विश्व विज्ञान-विश्वशांति की | |
| जीवन्त प्रयोगशाला : जैन श्रमण | |

समग्र स्वास्थ्य के उपाय : तपस्या तपस्या : धार्मिक-वैज्ञानिक-आयुर्वेदिक दृष्टि

अनादि काल से आत्मा कर्मरूपी कलंक से मलिन हुई है। जैसे - अशुद्ध सुवर्ण पाषाण को शुद्ध करने के लिए अग्नि में 16 बार डालकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार अशुद्धात्मा को तपरूपी अग्नि में डालकर शुद्धिकरण किया जाता है। जिस प्रकार बिना अग्नि के अशुद्ध स्वर्ण शुद्ध स्वर्ण रूप में परिणमन नहीं करता है उसी प्रकार बिना तप से अशुद्धात्मा-शुद्धात्मा रूप परिणमन नहीं कर सकती है, इसीलिए आत्मा शुद्धिकरण के लिए तप की अत्यन्त आवश्यकता है। तप से पापकर्म का निरोध होता है। जैसे - दीपक को प्रज्ज्वलन करने से पूर्व का अन्धकार नष्ट होता है, नवीन अन्धकार प्रवेश नहीं करता है एवं वह परिसर प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार तप रूपी दीपक से पूर्व संचित पाप रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है एवं नवीन पापरूप अन्धकार प्रवेश नहीं करता है और आत्मा प्रकाशमान हो जाती है। आचार्य उमास्वामी ने तप का महत्व, कार्य एवं प्रतिफल का वर्णन करते हुए कहा है- “तपसा निर्जरा च”। तप का धर्म में अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है। यथा -

यथाऽपिरेकोऽपि विकलेदन भस्माङ्गारादि प्रयोजन ।

उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदय कर्मक्षय हेतुरित्यत्र को विरोध ॥

अग्नि एक समान होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे - अग्नि एक है तो भी उसके विच्छेदन, भस्म और अंगार आदि कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनों का हेतु है।

प्रत्येक जीव का अन्तिम लक्ष्य सुख शांति प्राप्त करना है और जिसके माध्यम से इसकी उपलब्धि होती है उसे सामान्यतः धर्म कहा जाता है। धर्म से न केवल पारलौकिक, आध्यात्मिक सुख मिलता है परंतु उससे इहलोक संबंधी शारीरिक/मानसिक/सामाजिक आदि सुख भी मिलता है। आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त, कफ आदि का समरूप होना स्वास्थ्य है तो मनोविज्ञानिक दृष्टि से मन का उदार, स्थिर, पवित्र होना मानसिक स्वास्थ्य है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्मा का पवित्र होना, अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, वैभव आदि से युक्त होना आध्यात्मिक स्वास्थ्य है। अतएव स्वास्थ्य शब्द की व्युत्पत्ति ही स्व में स्थिर होना है। अंतिम आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की भी आवश्यकता है वर्णोंकि “शरीरमाद्यं खलु धर्मः साधनम् ।” अर्थात् धर्म साधना के लिए शरीर माध्यम है। मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए मध्य

दीपक के समान काम करता है अर्थात् दो कमरों के मध्य के देहली में रखा गया दीपक जिस प्रकार दोनों कमरों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। भारत में आयुर्वेद, ध्यानयोग, तपाचार आदि में जो कुछ प्रक्रिया का वर्णन है, उससे सिद्ध होता है कि बहिरंग एवं अन्तरंग तप उपरोक्त तीनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है।

गौतम गणधर ने तप के उत्कृष्टम भेद ध्यान का वर्णन करते हुए कहा है -

जो सारो सब्व सारेसु सो सारो एस गोयम ।

सारं झाणांति णामेण सब्वं बुद्धेहि देसिदं ॥

जगदन्तवर्ती सब वस्तुओं में सार ‘व्रत’ है उनमें भी हे गौतम ! ध्यान ही श्रेष्ठ सार है क्योंकि ‘सार ध्यान’ इस नाम से सब बुद्धों (सर्वज्ञों) ने ध्यान को सार कहा है।

पातंजली योग दर्शन में महर्षि पतंजली ने ध्यान के पहले यम, नियम, प्राणायाम, आसन आदि की साधना के लिए कहा है। उसी प्रकार जैन धर्म में भी ध्यान के पहले ब्रत, नियम, समिति, गुप्ति, बहिरंग तप एवं अन्तरंग तप को कहा है।

बहिरंग एवं अन्तरंग तप में से शारीरिक स्वास्थ्य के लिए 1) अनशन (उपवास) 2) ऊनोदर (भूख से कम खाना) 3) ब्रतपरिसंख्यान (भोजन संबन्धी नियंत्रण) 4) रस परित्याग (रस संबन्धी गृद्धता का त्याग या विरोधी रसों का एक साथ सेवन नहीं करना) 5) विविक्त शश्यासन (प्रदूषण रहित शांत-प्रशांत वातावरण में साधना करना) 6) कायकलेश (महान् कार्य के लिए शारीरिक श्रम करना) आदि तप मुख्यतासे कार्यकारी हैं। इसके साथ-साथ इससे शारीरिक स्वास्थ्य की उपलब्धि एवं मन की विशुद्धि भी होती है जिससे मानसिक स्वास्थ्य लाभ होता है और मानसिक स्वास्थ्य लाभ से शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है।

मानसिक स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए अन्तरंग तप 1) प्रायश्चित्त (स्व दोषों को स्वीकार पूर्वक दूर करना) 2) विनय (गुण-गुणी के प्रति नम्रता) 3) वैयावृत्ति (विनम्रता सहित निस्वार्थ रूप से गुरुजन-गुणीजन आदि की सेवा करना) 4) स्वाध्याय (स्व आत्मा की पवित्रता के लिए आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना) 5) व्युत्सर्ग (शारीरिक ममत्व के साथ-साथ तनाव को दूर करना) 6) ध्यान (मन की एकाग्रता) आदि मुख्य साधन हैं। उपरोक्त 6 अन्तरंग तप से मुख्यता से मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ होने पर भी इस मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य से शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है, स्वास्थ्य में वृद्धि होती है तथा मन से उत्पन्न होने वाले रोग दूर होते हैं।

1) अनशन (उपवास) :- लौकिक सुख, मंत्रसाधनादि दुष्टफल की अपेक्षा बिना संयम की सिद्धि, इंद्रिय विषय संबन्धी राग के उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान की सिद्धि

और आगम ज्ञान की प्राप्ति के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास (अनशन) कहलाता है।

सम्यक् उपवास की बहुआयामी उद्देश्य, फल एवं उपयोगिता है। हर समय भोजन करने से पाचन तंत्र को भोजन पचाने में ही सतत् कार्य करना पड़ता है, जिससे उसे विश्राम के लिए अवसर नहीं मिलता है। इसके कारण पाचन तंत्र दुर्बल एवं अस्वस्थ हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप अपच, अग्रिमांध, गैसट्रबल, पेटदर्द, पेट फूलना, कब्जियत आदि अनेक रोग उत्पन्न होकर और भी अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा - स्मरणशक्ति की कमी, मंद बुद्धि, आलस्य, मोटापा, खट्टी डकार, छाती में दर्द, वात रोग आदि-आदि।

भोजन पचाने के लिए पाचन तंत्र को सक्रिय होना पड़ता है, जिसके लिए उसे शक्ति की आवश्यकता पड़ती है; उस शक्ति की आपूर्ति के लिए रक्त का बहाव पाचन तंत्र की और अधिक होता है इसलिए भोजन के बाद क्लिष्ट विषयों का अध्ययन एवं कठिन कार्य करने के लिए निषेध किया गया है। इसलिए जो अधिक, बार-बार भोजन करता है वह शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ रहता है एवं मंद बुद्धिवाला होता है। क्योंकि मस्तिष्क की तरफ का रक्त भी पाचन तंत्र में अधिक चला जाता है, जिससे मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है एवं बुद्धि कम हो जाती है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि अधिक भोजन करने से आयु भी कम हो जाती है। क्योंकि भोजन को पचाने में अधिक शक्ति खर्च हो जाती है जिससे आयु कम हो जाती है। इसलिए दीर्घायु के लिए पौष्टिक आहार करना चाहिए परंतु बार-बार भोजन नहीं करना चाहिए। पौष्टिक, सात्विकाहार से ऊर्जा तो मिलती है परंतु बार-बार भोजन पचाने में जो शक्ति की क्षति होती है वह नहीं होती है जिससे आयु घटती नहीं है।

2) अवमौदर्य (भूख से कम खाना) :- संयम को जागृत करने के लिए, दोषों को शांत करने के लिए, संतोष, स्वाध्याय एवं सुख की सिद्धि के लिए अवमौदर्य होता है। तृष्णि के लिए पर्याप्त भोजन में से चतुर्थांश या दो चार ग्रास कम खाना अवमौदर्य है और अवमौदर्य का भाव कर्म अवमौदर्य कहलाता है।

3) वृत्ति परिसंख्यान (भोजन नियमन) :- एक घर, सात घर, एक गलि (एक मोहल्ला), अर्द्धग्राम आदि के विषय का संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। आशा तृष्णा की निवृत्ति के लिए भिक्षा को जाते समय साधु का एक, दो, तीन, सात आदि घर-गलि, दाता, भोज्य पदार्थ आदि का नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

4) रस परित्याग (रस लालसा का नियंत्रण) :- जितेंद्रियत्व, तेजोवृद्धि, संयम में बाधा की निवृत्ति आदि के लिए धी, दूध, दही, गुड, नमक, तेल आदि रसों का परित्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है।

5) विविक्त शध्यासन (एकान्त साधना) :- जंतुबाधा का परिहार, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यानादि की सिद्धि के लिए निर्जन्तु, शुन्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानों में शध्या (सोना) आसन (बैठना) विविक्त शध्यासन है। विविक्त (एकान्त) में सोने-बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है, ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है और गमनागमन का अभाव होने से जीवों की रक्षा होती है।

6) कायवक्लेश (शरीर श्रम) :- प्रतिमा योग (प्रतिमा के समान अचल स्थिर रहना) धारण करना, मौन रखना, आतापन (ग्रीष्मकाल में सूर्य के समुख खड़े रहना), वृक्ष मूल (चातुर्मास में वृक्ष के नीचे चार महिना निश्चय बैठे रहना), सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट होना कायवक्लेश तप है।

उपवास से वात-पित का भी प्रकोप हो सकता है। इंद्रियों की शक्ति क्षीण हो सकती है परंतु अल्पाहार से वे सब समस्यायें समाधान होती हैं। जो उपवास करने में समर्थ नहीं है वह भी अल्पाहार तप कर सकता है। परंतु बार-बार इतना भी अल्पाहार नहीं करना चाहिए जिससे कुपोषण हो जावे एवं शरीरादि रोगग्रस्त हो जावे। कुछ लोग तो उपवास कर लेते हैं परंतु अन्य समय में दूँस-दूँस कर खाते रहते हैं जिससे प्रमाद एवं रोग हो जाते हैं। थोड़ा सा भी भोजन कम होने पर दुःखी, अशांत एवं विक्षुब्ध हो जाते हैं। भोजन करते हुए भोजन की आसक्ति-तृष्णा/लालसा नहीं करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। भोजन की आसक्ति/राग/ममत्वादि परिणाम ही बन्धके लिए कारण है। प्रायः देखने में आता है कि उपवास एवं ऊनोदर तप करने वाले भी भोजन में गृद्धता रखते हैं। अधिक गरिष्ठ एवं रसयुक्त भोजन से इंद्रियाँ मत्तहस्ति के जैसे उत्थृंखल हो जाती हैं। एक साथ विरोधी रसों के सेवन से भी वान्ति (वमन), पेट में दर्द आदि रोग हो जाते हैं। जैसे दूध के साथ दही-मट्ठा, नमक, तेल, गुड, खट्टी चीज (खट्टारस) आदि विरुद्ध रस है। इसलिए इसका एक साथ सेवन नहीं करना चाहिए। कुछ उपवासादि करने वाले भी भोजन के समय रस लोलुपी दिखाई देते हैं। इच्छित रस नहीं मिलने पर क्रोधित होते हैं। भोजन बनानेवाली माँ-बहिनादि को गाली तक देते हैं, बर्तन फेक देते हैं। इस प्रकार कुछ जो रसत्याग भी करते हैं वे भी अन्य रस या भोजन में लोलुपी होकर उपर्युक्त क्रियायें करते हैं। असंतुलित अधिक उपवास या रसत्याग से शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति, स्मरण शक्ति, विवेक शक्ति, सहन शक्ति की कमी तथा ज्ञानवाही तंत्रिका की क्षमता कम हो जाती है जिससे मनुष्य चिडचिडा, असहनशील हो जाता है। इसलिए रसत्याग भी शक्ति के अनुसार विवेक पूर्वक करना चाहिए। न अतिप्रणित बाजीकरण रस सेवन करना चाहिए, न अति रुखा-सुखा, निरस भोजन करना चाहिए। उपर्युक्त तपों के माध्यम से मन एवं इंद्रियों को स्वस्थ एवं संयमित करके एकान्त, प्रशांत, पवित्र, प्रशस्त, शुद्ध वातावरण

में रहकर आत्मचिंतवन, स्वाध्याय, मनन, धर्मध्यान, ज्ञानाराधना करना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त एकान्त स्थान में वायु प्रदूषण, शब्द प्रदूषण, भाव प्रदूषण नहीं होने के कारण शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है एवं आध्यात्मिक साधना में प्रखरता आती है। जैन तीर्थङ्कर, पैगम्बर मोहम्मद, ईसा मसीह, ऋषि, तापस, महात्मा बुद्ध आदि ने एकान्त में ही अपनी-अपनी साधना की सिद्धि की थी। प्राचीन गुरुकुल, आधुनिक कुछ विद्यालय, चिकित्सालय, वेदशाला, वैज्ञानिक प्रयोगशाला आदि शहर के कोलाहल से दूर होते हैं। अनेक वैज्ञानिक, दार्शनिक, चिंतक भी एकान्त में रहकर सत्य का शोध-बोध करते हैं। कुछ उपवासादि तप को करने वाले भी भीड़ को पसंद करते हैं, भीड़ जुटाते हैं और उस भीड़ में विकथादि करके अपनी शक्ति एवं समय का दुरुपयोग करते रहते हैं। केवल एकान्त में रहना तप नहीं है परंतु एकान्त में रहकर आत्माको परिष्कृत करना तप है, नहीं तो जो चोर, डाकु, आतंककारी, हिंसपशु एकान्त में रहते हैं वे भी तपस्वी हो जायेंगे। आत्मकल्याण के लिए शरीर का पूर्ण उपयोग करना 'कायक्लेश' है। जो उपवासादि तप करते हुए भी शरीरासक्त रहेंगे वे अन्यान्य धार्मिक कार्य करने में कठरायेंगे। शरीर के राग से कर्मबंध भी होता है। जैसे जो खेल में बहुत दौड़-धूप करेंगे वे भी अपने छोटे-छोटे दैनिक कर्तव्य में परावलम्बी रहेंगे।

जिस अन्तरंग तप के लिए बहिरंग तप किया जाता है उस अन्तरंग तप का प्रथम भेद 1) प्रायश्चित्त है। जब तक जीव सर्वज्ञ, वीतरागी नहीं बन जाता है तब तक कुछ न कुछ छोटे-बड़े दोष होना स्वाभाविक है। दोष होने पर भाव दूषित हो जाता है, कर्मबंध हो जाता है और प्रज्ञापराध हो जाता है। जिससे अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग हो जाते हैं। इसलिए उपर्युक्त हानियों से बचने के लिए सरल-सहज भाव से स्व-साक्षी पूर्वक तथा पर (गुरु) साक्षी पूर्वक दोषों को स्वीकार करके उसका परिमार्जन करना चाहिए। इसको धर्मशास्त्र के साथ-साथ आयुर्विज्ञान, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, प्राकृतिक चिकित्सा, दण्ड विधानादि ने स्वीकार किया है। उपवासादि करते हुए भी जो दोषों का परिमार्जन करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं करते हैं उनके बहिरंग तप अधिक गुणकारी नहीं है।

पूज्य पुरुष, पूज्य गुणों में आदर भाव होना, नम्र व्यवहार करना 2) विनय तप है। साधारण व्यक्ति, विनय भी एक महान् अन्तरंग तप है यह न ही जानते हैं, न ही मानते हैं। उन्हें तो यह आश्चर्य होता है कि विनय तप कैसे है? परंतु जैन धर्म में विनय की महान् महिमा कही गयी है। कुन्द कुन्द देव ने कहा कि -

विनय मोक्षद्वारं विणयेण संयम तपो णाणं।
विणयेण विष्पमुक्तस्म कुदो तप कुदो णाणं ॥

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही संयम, तप और ज्ञान यथार्थ होते हैं। जो विनय से रहित उसके तप कहाँ है? ज्ञान कहाँ है? विनय स्वयमेव अन्तरंग महान् तप है। संयम, ज्ञानादि की वृद्धि के लिए कारण है, मनुष्य के लिए महान् आध्यात्मिक आभूषण है। परंतु अन्यान्य तप करते हुए भी कुछ व्यक्ति अनग्र, अशालीन, उदण्ड, हठग्राही, अभद्र पाये जाते हैं।

गुरु, गुणी, धार्मिक व्यक्तियों की सेवा तन, मन, वचन, भोजन, औषधादि से करना 3) वैयावृत्त है। जीवों को नहीं मारना निषेधात्मक अहिंसा (दया) है तो जीवों की सेवा करना विधि परक अहिंसा (दया) है। इससे दया, नम्रता, वात्सल्य भाव, निरहंकारता, प्रेम, संगठन बढ़ता है; इससे दूसरों के प्रति हमारे कर्तव्यनिष्ठा, संवेदना, सहअस्तित्व, सहकार भाव बढ़ते हैं और यह सब भाव परिवर्तन में हमें भी मिलते हैं। इससे तीर्थङ्कर पुण्यकर्म का बंध भी होता है। शरीर निरोग, सुंदर एवं बलिष्ठ होता है और परभव में भी निरोग, सुंदर शरीर मिलता है। इस तप के कारण ही भीमसेन को बलिष्ठ शरीर मिला था, वासुदेव को सुंदर शरीर मिला था। भगवती आराधना में कहा गया है कि स्वाध्याय करने वालों से भी श्रेष्ठ वैयावृत्त करने वाला है। साधारणतया लोग वैयावृत्त को तप नहीं जानते हैं और न ही मानते हैं। कुछ लोग जो इसे गरीबों का पेशा (नौकरी) मानते हैं। उपवासादि करेंगे, दान में रूपये देंगे परंतु सेवा करने में कठरायेंगे या इसे हीन दृष्टि से देखेंगे।

सत्साहित्यों का आत्म कल्याण के लिए अध्ययन करना 4) स्वाध्याय है। स्वाध्याय से हिताहित का विवेक होने से, अहित का परिहार होता है, हित का ग्रहण होता है। स्वाध्याय से क्षयोपक्षम बढ़ता है जिससे ज्ञान बढ़ता है, भावों में निर्मलता आती है, भोग, विषय, कषाय, दूषित भाव से जीव बचता है। स्वाध्याय में शरीर स्थिर रहता है, चक्षु शब्द देखने में लीन रहती हैं, कर्ण शब्द श्रवण में प्रवृत्त होता है, मन तत्त्व चिन्तन में लीन रहता है। इसलिए स्वाध्याय को परम तप कहा है और इससे असंख्यात गुणी पाप कर्मों की निर्जरा होती है एवं सातिशय पुण्य कर्म का बंध भी होता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति अन्य साधारण व्यक्ति से अधिक विवेकी, शालीन, नम्र, सरल, सत्यग्राही, धर्मशील, पापभीरु होता है। परंतु अभी देखने में आता है कि अधिकांश व्यक्ति स्वाध्याय करते हुए भी असंयमी, लोभी, कुटिल, कुतर्की, हठग्राही पाये जाते हैं। जैसे - भोजन पाचन के बिना अहितकारी हो जाता है उसी प्रकार वाचना (स्वाध्याय) पाचन (आचरण) के बिना अहितकारी हो जाता है।

अहंकार, ममकार, संकल्प, विकल्प, कर्तापन का त्याग करना 5) व्युत्सर्ग तप है। तप, दान, पूजादि करके भी उसमें अहंकारादि नहीं करना, धनादि के कारण न मद करना, न उसमें लालसा रखना व्युत्सर्ग तप है। यदि तपादि करते हुए अहंकारदिका त्याग

नहीं करते हैं तो वे तप केवल ढोंग, बाह्यादम्बर, क्रियाकाण्ड हो जायेंगे। जैसे - विषधर सर्प केवल काँचली त्याग करता है, विष त्याग नहीं करता है; उसी प्रकार अन्तरंग विशुद्धि के बिना बाह्य त्याग, तप व्यर्थ है।

उपर्युक्त बहिरंग, अन्तरंग तप के माध्यम से जब भाव विशुद्ध हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है वह 6) ध्यान तप होता है। ध्यान में न बाह्य द्रव्यों का कुप्रभाव रहता है, न अन्तरंग कुभावों का प्रभाव रहता है। इसलिए मन भी शांत, निर्मल होकर स्थिर हो जाता है। इस ध्यान के माध्यम से ही जीव समस्त द्रव्य-कर्म एवं भाव-कर्मों को नष्ट करके सिद्ध, बुद्ध, अनन्त सुखी हो जाता है। यदि अन्यान्य तप करते हुए भी मन स्थिर, शांत (ध्यान) नहीं हुआ तो जानना चाहिए कि वह तप, यथार्थ से तप नहीं था केवल तपाभास था। ध्यान से अन्यान्य तर्पों का अन्तःपरीक्षण होता है। ध्यान तर्पों के मापदण्ड है परंतु बकों के जैसे ध्यान का ढोंग रचना ध्यान नहीं है। ध्यानी के बाह्य आचरण, व्यवहार में भी ध्यान की सुगंधी आती है। जैसे ध्यानी, गम्भीर, शांत, क्षमावान्, दयावान्, सरल, निर्भीक, सौम्य, साम्यभावी होगा।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि तपस्वी, भोजन, रस, जनसम्पर्क, शरीर से लालसा/राग/इच्छा/आकर्षण हटाता हुआ दोषों को दूर करता है, विनग्र व्यवहार करता है, सेवाव्रत स्वीकार करता है, स्वाध्यायशील होता है, निष्कामी, निरहंकारी होता है एवं मन को संयमित करके आत्मा में यथायोग्य स्थिर रहता है।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुतो तवो वि अक्यत्थो ।

तम्हाणाण तवेण संजुतो लहड़ णिव्वाणं ॥

तप से रहित ज्ञान एवं ज्ञान से रहित तप कार्यकारी नहीं है। इसलिए ज्ञान एवं तप से संयुक्त जीव निर्वाण को प्राप्त करता है।

णाणेण जाणङ्ग भावे, संदणेण य सद्द्वे ।

चारित्तेण णिणिणहङ्ग तवेण परिसुज्जङ्ग ॥

भावों को ज्ञान से जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मों को नष्ट करता है वह तप है एवं तप से परिशुद्ध होता है।

दानं दुर्गतिनाशाय शीलं सद्गति कारणम् ।

तपः कर्म विनाशाय, भावना भवनाशिनी ॥

दान से दुर्गतिनाश होता है, शील से सद्गति मिलती है, तप कर्म विनाश के लिए हैं, भावना भव (संसार) का नाश करती है।

तप की परिभाषा

तिण्ठं रथणाणमाविभावद्विच्छाणिरोहो ।

(ध्वल पुस्त. 13, पृ. 54)

तीन रत्नों को प्रकट करने के लिए इच्छा निरोध को तप कहते हैं।

तप के भेद :-

तं सब्धंतरबाहिरं बारसविहं तं सव्वं तवोकम्मणाम् ॥ 26

वह अध्यंतर और बाह्य के भेद से बारह प्रकार का है वह सब तप कर्म है।

इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो ।

विविहं काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मलो तस्स ॥ 400 (स्वा.का. अनु)

जो समभावी इस लोक और परलोक के मुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का कायकलेश करता है उसके निर्मल तप धर्म होता है।

उस मुनि का तप निर्मल कहा जाता है जो सुख-दुःख में, शत्रु-मित्र में, लाभ-अलाभ में, इष्ट-अनिष्ट में और तृण-कंचन में समभाव रखता है, तथा इस लोक और परलोक के मुखों की जिसे चाह नहीं है क्योंकि जो मायाचार, मिथ्यात्व और निदान (आगामी मुखों की चाह) से रहित होकर ब्रतों का पालन करता है वही ब्रती कहलाता है। कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से जैन मार्ग के अनुकूल जो तपा जाता है वही तप है। इच्छा को रोकने का नाम भी तप है।

बाह्य तप के भेद :-

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रस-परित्याग

विविक्तशश्यासन-कायकलेशा बाह्यं तपः ॥ 19 (त.सू. अ.-9)

1) अनशन 2) अवमौदर्य 3) वृत्तिपरिसंख्यान 4) रसपरित्याग 5)

विविक्तशश्यासन 6) कायकलेश यह छः प्रकार का बाह्य तप है।

1) **अनशन तप** :- तथ्यचउत्थ-छट्टम्-दसम्-दुवालस-पक्ख-मास-उडु अयणसंवच्छरेसु उसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो । किमेसणं? असण-पाण-खादिय-सादिं। किमद्वमेसो कीरदे? पाणिदियसंजमडुं, भुत्तीए उहयासंजम-अविणाभावदंसणादो। ण च चउव्विह आहारपरिच्चायो चेव अणेसणं, रागादीहि सह तच्चागस्स अणेसणाभावबुवगमादो ॥ (षट्खंडागम वगणा खंड ५, ४, २६ पृ. ५५)

उसमें चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषणा का त्याग करना तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषणा का त्याग करना

अनेषण नाम का तप है।

शंका - एषण किसे कहते हैं ?

समाधान - अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इनका नाम एषण है।

शंका - यह किसलिए किया जाता है ?

समाधान - यह प्राणी संयम और इंद्रिय संयम की सिद्धि के लिए किया जाता है, क्योंकि भोजन के साथ दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव देखा जाता है।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि चारों प्रकार के आहार का त्याग ही अनेषण कहलाता है, क्योंकि रागादिकों के त्याग के साथ ही उन चारों के त्याग को अनेषण रूप से स्वीकार किया जाता है।

अप्रवृत्तस्य दोषेभ्यस्सहवासो गुणैः सह ।

उपवासस्य विज्ञेयो न शरीरविशेषणम् ॥ 6

उपवास में प्रवृत्ति नहीं करने वाले जीव को अनेक दोष प्राप्त होते हैं और उपवास करने वाले को अनेक गुण, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। शरीर के शोषण करने को उपवास नहीं कहते।

बारह प्रकार के तर्पों में पहला अनेषण तप है। यहाँ इसका नाम अनेषण दिया है। एषण का अर्थ खोज करना है। साधु बुधुक्षा की बाधा होने पर चार प्रकार के निर्दोष आहार की यथाविधि खोज करता है इसलिए इसका एषण नाम ही सार्थक है। एषणा समिति से भी यही अभिप्राय लिया गया है। अनेषण यह नाम अशन नहीं करना, इस अर्थ में चरितार्थ है। इससे अनेषण इस नाम में मौलिक विशेषता है। एषण की इच्छा न होने पर साधु की प्रतिज्ञा करता है, इसलिए अनेषण साधन है और अनेषण उसका फल। भोजन रूप क्रिया की व्यावृत्ति अनेषण है और भोजन की इच्छा न होना अनेषण है। यहाँ 'अन्' का अर्थ 'ईषत्' भी है। इससे यह अर्थ भी फलित होता है कि जो चार प्रकार के आहार में से एक, दो या तीन प्रकार के आहार का त्याग करते हैं उनके भी अनेषण तप माना जाता है।

2) अल्पाहार (अवमौदर्य) तप :- अद्वाहारणियमो अवमोदरिय तवो । जो जस्स पयडिआहारो तत्त्वे ऊणाहार विसय अभिग्रहो अवमोदरियमिदि भणिदं होदि। (ध.पु.13)

आधे आहार का नियम करना अवमौदर्य तप है। जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार विषयक अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करना अवमौदर्य तप है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

तथ ताव पयडिपुरिसित्थीमाहार परूवणाएगाहाः-

बतीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरणो भणिदो ।

पुरिसस्स महिलियाए अद्वाविसं हवे कवला ॥ 7

उसमें प्रकृतिस्थ पुरुष और स्त्रियों के आहार का कथन करते समय यह गाथा आती है -

उदरपूर्ति के निमित्त पुरुष का 32 ग्रास और महिला का 28 ग्रास आहार कहा है।

किं कवल पमाणं ? सालितंदुलसहस्से द्वित्रेजं कूरपमाणं तं सव्वमेगो कवलो होदि। एसो पयडि पुरिसस्स कवलो परुविदो। एदेहि बतीस कवलेहि पयडि पुरिसस्स आहारो होदि, अद्वावीस कवलेहि महिलियाए। इमं कवल भेदमाहारं च मोतूण जो जस्स पयडिकवलो पयय आहारो सो च धत्तव्वो। ण च सव्वेसिं कवलो आहारो वा अवट्टिदो अथि, एगुडवलंदुल कूर भुजमाण पुरिसाण एग-गलत्थ कूराहार पुरिसाण च उवलंभादो। एवं कवलस्स वि अणवड्णाणमुवलब्धदे। तम्हा अप्पपणो पयडि आहारादो ऊणाहारगणणियमो ओमोदरिय तवो होदि ति सिद्धं। एसो तवो केहि कायव्वो ? पित्तप्पकोवेण उववास अक्खमेहि अद्वाहारेण उववासादो अहिय परिस्समेहि सगतवोमाहप्पण भव्वाजीवुवसमणवावदेहिं वासग कुकिखि किमिउप्पत्ति णिरोह कंखुएहिं वा अदिमत्ताहार भोयणेण वाहिवेयणसणिमितेणसज्जाय भंग भीए एहिं वा।

शंका - एक ग्रास का क्या प्रमाण है ?

समाधान - शाली धान्य के एक हजार चावलों का जो भात बनता है वह सब एक ग्रास होता है।

यह प्रकृतिस्थ पुरुष का ग्रास कहा है। ऐसे बतीस ग्रासों द्वारा प्रकृतिस्थ पुरुष का आहार होता है और 28 ग्रासों द्वारा महिला का आहार होता है। प्रकृत में इस ग्रास और इस आहार को ग्रहण न करके जो जिसका प्राकृतिक ग्रास और प्राकृतिक आहार है, वह लेना चाहिए। कारण कि सबका ग्रास और आहार अवस्थित अर्थात् एक समान नहीं होता, क्योंकि कितने ही पुरुष एक कुडव प्रमाण चावलों के भात का और कितने ही पुरुष एक गलत्थ चावलों के भात का आहार करते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार ग्रास भी अनवस्थित पाया जाता है। इसलिए अपना-अपना जो प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार के ग्रहण करने का नियम अवमौदर्य तप होता है, यह बात सिद्ध होती है।

शंका - यह तप किन्हें करना चाहिए ?

समाधान - जो पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ हैं, जिन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान आती है, जो अपने तप के माहात्म्य

से भव्य जीवों को उपशांत करने में लगे हैं, जो अपने उदर में कृमि की उत्पत्ति का निरोध करना चाहते हैं और जो व्याधिजन्य वेदना के निमित्तभूत अतिमात्रा में भोजन कर लेने से स्वाध्याय के भंग होने का भय करते हैं, उन्हें यह अवमौदर्य तप करना चाहिए।

बाह्य तप अन्तरंग तप के लिए कारण-साधन-प्रेरक-सहकारी होने पर ही बाह्य तप यथार्थ से बाह्य तप है अन्यथा वह शारीरिक दंड, शारीरिक शोषण एवं मिथ्या इच्छा साधन स्वरूप हो जाएगा। इसीलिए बहिरंग तप करते हुए अंतरंग तप को भूल न जाना चाहिए। जिस प्रकार पथिक लक्ष्य भ्रष्ट होकर, लक्ष्य शुन्य होकर यद्वा-तद्वा तीव्र गति से दीर्घकाल तक गमन करने पर भी अपने योग्य गंतव्य स्थल में नहीं पहुँच सकता है उसी प्रकार साधक, तपस्वी के आत्मविशुद्धि स्वरूप अंतरंग तप से लक्ष्यहीन होकर बाह्य तप यथेच्छ करने पर भी उसका बाह्य तप अकिञ्चित् होकर ही रहेगा। इसलिए जो बाह्य तप अंतरंग तप के लिए कारणभूत सहायक हैं, ऐसा ही बाह्य तप साधक को करना चाहिये। अनशन बाह्य तप का प्रथम तप है। अनशन तप करने पर यदि पित्तादि प्रक्रिया प्रकोपित होकर ध्यान-अध्ययन में बाधा डालता है तब उस साधक को अनशन तप करना हितकर की अपेक्षा अहितकर तथा साधक की अपेक्षा बाधक सिद्ध होगा। इस सम्पूर्ण दृष्टिकोण को रखकर वस्तु स्वरूप को यथार्थ जानने वाले अनन्त ज्ञानियों ने एवं अनुभवी आचार्यों ने अवमौदर्य तप को बाह्य तप में अन्तर्भूत किया है।

स्वयं की जो भोजन मात्रा है उसमें से एक चावल के भात से लेकर एकाधिक ग्रास कम भोजन करना अवमौदर्य तप है। भूख से कुछ कम खाना अवमौदर्य तप है। इस तप से आलस्यपना, निद्रा नहीं आती है, शरीर भारी नहीं होता एवं प्रमाद नहीं आता है। श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया सरलता से चलती है। ध्यान-अध्ययन, वैयाकृति, उपदेश आदि धार्मिक कार्य-कलाप सुचारू रूप से संपादन होते हैं। अधिक भोजन से रोग, बदहजमी, प्रमाद, बुद्धिमंदता, ध्यान-अध्ययन, धार्मिक कार्य में प्रमाद आदि होता है।

वीरसेन स्वामी ने अवमौदर्य तप के माध्यम से आध्यात्मिक रोग निवारण, रोग-उपशमन के साथ-साथ शारीरिक रोग उपशमन, निरोध आदि का वर्णन करते हुए अवमौदर्य तप को आध्यात्मिक एवं शारीरिक रोग चिकित्सा का सुंदर दिग्दर्शन कराया है। आयुर्वेद शास्त्र में भी निरोग होने के लिए जो एक सार्वभौमिक प्रधान एवं प्रथम सूत्र का प्रतिपादन किया गया है उसमें भी कहा गया है कि “हितभुक्मितभुक्त्रहुभुक्।” यह निरोग होने का प्रथम सूत्र है। आयुर्वेद के अनुसार मित भुक् धर्मनुसार अवमौदर्य तप होने पर भी आयुर्वेद में शारीरिक दृष्टि निहित है किंतु धर्म में आध्यात्मिक दृष्टि प्रधान होते हुए भी गौण तथा अनुषंगिक रूप से शारीरिक दृष्टि भी निहित है क्योंकि “शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्” धर्म साधन करने के लिए निरोग शरीर आद्य साधन है।

अति भोजन से भोज्य वस्तु पूर्ण रूप से पचती नहीं है जिससे पूर्णतया सार अंश शरीर को प्राप्त नहीं होता है। इससे अजीर्ण आहार रोग के लिए कारण बनता है क्योंकि अजीर्ण आहार विषाक्त रूप में परिणित हो जाता है। जो आहार अंश ठीक से पचन होकर शरीर को सार अंश नहीं देता वह अंश वृथा नष्ट होने से एवं रोगोत्पादन करने से आर्थिक क्षति का भी कारण होता है। वर्तमान युग में प्राकृतिक चिकित्सक, डाक्टरों व विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य अनाहार से जितने रोगी नहीं होते हैं उससे कहीं अधिक मात्रा में अधिक भोजन से रोगी होते हैं, मरते हैं। इसलिए अति भोजन शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक क्षति के लिए कारण है एवं स्वल्पाहार शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक उत्तरि के लिए सन्तुलन के लिए कारण है। उपरोक्त समस्त दृष्टिकोण को रख करके प्राचीन मनीषियों ने उनोदर तप को बाह्य तप में अन्तर्भूत किया है।

3) भोजन नियमन (वृत्ति परिसंख्यान) तप :- भोयण-भायण घर-वार-दादात वृत्ति णाम। तिस्से वुत्तीएपरिसंख्यान गहण वुत्तिपरिसंख्याण णाम। एदम्मि वुत्तिपरिसंख्याणे पडिवद्धो जो अवग्नहो सो वुत्तिपरिसंख्याण णाम तवो ति भणिंदं होदि। ऐसा केहि कायब्बा ? सगलवो विसेसेण भव्वजणभुवसमेदूण सगरस रुहिरगांस सोसणदुवरेण इंदिय संजममिच्छेत्तेहि साहूहि कायब्बा भायण-भोयणादि विसय रागादि रदिहरण चित्तेहि वा। (ध्वाला पु. 13 पृ. 57)

भोजन, भाजन, घर-बार (मोहल्ला) और दाता इनकी वृत्ति संज्ञा है। उस वृत्ति का परिसंख्यान अर्थात् ग्रहण करना वृत्ति परिसंख्यान है। इस वृत्ति परिसंख्यान में प्रतिवद्ध जो अवग्रह अर्थात् परिमाणनियंत्रण होता है वह वृत्ति परिसंख्यान नाम का तप है, यह उक्त वचन का तात्पर्य है।

शंका - यह किनको करना चाहिये ?

समाधान - जो अपने तप विशेष के द्वारा भव्यजनों को शांत करके अपने रस, रुधिर और माँस के शोषण द्वारा इंद्रिय संयम की इच्छा करते हैं उन साधुओं को करना चाहिये अथवा जो भाजन और भोजनादि विषय रागादि को दूर करना चाहते हैं अन्हें करना चाहिये।

वृत्ति परिसंख्यान इच्छा निरोध के लिए व रागद्वेष निवारण के लिए है। इससे जो श्रावक अपना भक्त है उससे अनुरक्त होकर उसके घर पर ही जाकर आसक्तिपूर्वक भोजन करने का निरसन हो जाता है। इस तप के बिना जिस परिवार से मधुर, रुचिकर, इच्छानुकूल यथेष्ट भोजन मिलता है उस परिवार में जाकर रागी मुनि को आसन्न होकर भोजन करने का सुयोग मिल सकता है परंतु वृत्ति परिसंख्यान से वीतरागी मुनि उपरोक्त दोष से अपनी आत्मा को सुरक्षित कर लेता है।

4) रसासक्ति त्याग (रस परित्याग) तप :- खीर-गुड-सप्पि-लवण-दधि आदो सरीरिदिय रागादि बुद्धिमित्ति रसाणाम। तेसि परिच्चाओ रस परिच्चओ। किमड्मेसो कीरदे ? पाणिंदिय संजमडं। कुदो ? जिबिंदिय पिरुद्धे सबलिदियाण णिरोहुवलंभादो, सबलिदिएमु पिरुद्धेसु चत्परिग्गहस्स पिरुद्धरागदोसस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पंच समिदि मंडियस्स वासी-चंदण समाणस्स पाणासंजगणिरोहुण लंभादो। (धवला पु. 13 पृ. 57)

शरीर और इंद्रियों में रागादि वृद्धि के निमित्तभूत दुध, गुड, धी, नमक और दही आदि रस कहलाते हैं, इनका त्याग करना रस परित्याग तप है।

शंका - यह रस परित्याग तप किसलिए किया जाता है ?

समाधान - प्राणी संयम और इंद्रिय संयम की प्राप्ति के लिए किया जाता है क्योंकि जिह्वा इंद्रिय का निरोध हो जाने पर सब इंद्रियों का निरोध देखा जाता है और सब इंद्रियों का निरोध हो जाने पर जो परिग्रह का त्याग कर राग-द्वेष का निरोध कर चुका है, जो त्रिगुमिगुम है, जो पाँच समितियों से मंडित है और जो वसूला और चंदन में समान बुद्धि रखता है उसके प्राणों के असंयम का निरोध देखा जाता है।

आयुर्वेद में कहा है “रसा मूलानि व्याधिनि” अर्थात् रोगों की उत्पत्ति रसों से होती है। अधिक रस सेवन से रोग उत्पन्न होता है। कुछ रस परस्पर विरुद्ध तत्त्व से युक्त होते हैं। विरुद्ध रसों का एक साथ सेवन करने से वे परस्पर मिलकर क्षतिकारक प्रतिक्रिया करते हैं। जैसे - दूध में मीठा रस है एवं धी में खट्टा रस है। दोनों का सेवन एक साथ करने से दोनों मिल जाते हैं जिससे दूध का यथार्थ रीति से पाचन नहीं होता है और खट्टे रस के सम्पर्क से दूषित होकर दूध फट जाता है। इससे पेट में दर्द, वांति आदि होती है। दही एवं केलों का सेवन करने से पेट में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए विरोध रसों का त्याग करके सीमित रसों का सेवन करना चाहिये। इससे शारीरकि स्वास्थ्य संपादन होता है।

जैसे वृक्ष के मूल में पानी सिंचन करने से वृक्ष पल्हवित, पुष्पित होकर फल प्रदान करता है उसी प्रकार शरीर की मूल रूपी जिह्वा में रस रूपी जल सिंचन करने से समस्त इंद्रियाँ उत्तेजित, पुष्टिकर और अदुर्दमनीय हो जाती है। जैनाचार्यों ने कहा है-

अक्खाणं रसणीं कम्माणं मोहणीं तह व्याणं बंभं च।

गुजिसु य मणगुत्ति चउरो दुक्खेहिं सिज्जांति ॥ आ. कुंदकुंद

इंद्रियों में रसना इंद्रिय, कर्म में मोहनीय, व्रत में ब्रह्मचर्य, गुप्ति में मनोगुप्ति ये चार अत्यन्त कष्टसाध्य हैं।

आचार्यों ने बताया है कि जैसे शुष्क लकडी तृण से व्याप्त जंगल में अग्नि लग जाने के बाद वह अग्नि प्रचुर ईंधन के कारण उत्तरोत्तर भयंकर रूप धारण करके बढ़ती

जाती है उसी प्रकार गरिष्ठ कामोद्विपक रस सेवन से कषाय के साथ-साथ विशेषतः कामाग्नि वृद्धिगत होती है। इसलिए रस त्याग व्रत रखा गया है।

एक विशेष बात ध्यान में रखने योग्य है कि कम उमर वाले विशेष ध्यानाध्ययन करने वाले साधक को योग्य रस सेवन करना आवश्यक है। योग्य रसाभाव से पित्तादिक दोष दूषित होकर वृद्धिगत होकर स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाते हैं जिससे ध्यानाध्ययन में बाधा पहुँचती है। इसीलिए स्वशक्ति, स्वप्रकृति के अनुकूल रस त्याग करना चाहिये। रसत्याग बहिरंग तप है। बहिरंग रस त्यागरूपी तपस्या से यदि अंतरंग ध्यानाध्ययनादि रूप तपस्या में वृद्धि होती है तो वह बाह्य रसत्याग तप के अन्तर्भुक्त होगा। यदि रसत्याग से अंतरंग ध्यानाध्ययन आत्मविशुद्धि रूप अंतरंग तप वृद्धिगत नहीं होता है तो वह रसत्याग तप के अन्तर्गत नहीं हो सकता है।

केवल गोरस आदि का त्याग करना ही रस त्याग नहीं है अपितु आहार के प्रति जो आसक्ति, गृद्धि है उसको भी कम करना रसत्याग के अन्तर्गत है। एक रस को त्यागकर उसके परिवर्तन में अन्य रस के प्रति गृद्धता भाव धारण करना भी यथार्थ रसत्याग तप नहीं है क्योंकि आसक्ति, इच्छा, ममत्व कम होना ही यथार्थ में तप है। बाह्य रसत्याग के साथ-साथ क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, ममकार, ख्याति, पूजा, प्रशंसा आदि का रसत्याग करना यथार्थ से सर्वोत्कृष्ट रसत्याग तप है।

5) श्रीर नियंत्रण (काय-वलेश) तप :- रूखमूलव्योकासादावणजोग-पलियंक-कुक्कुटासन-गोदाहद्व-पलियंक-वीरासण-मदयसयण-मयरमुह-हस्थिसोंडादीहि जं जीव-दमणं सो कायकिलेसो। किमड्मेसो कीरदे ? सदि-वादादवेहि बहुदोव वासेहि तिसाद्वाहादि बाहाहि विसुंठलासणेहि यज्ञाणपरिचयहं, अभावियसिदि बाधादि उववासादि बाहस्स मारणंतिय असादेण ओत्थअस्स ज्ञाणाणुववत्तीदो। (धवला पु. 13 पृ. 58)

वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण प्रदेश में आकाश के नीचे आतापन योग, पल्यंकासन, कुक्कुटासन, गोदाहासन, अर्धपल्यंकासन, वीरासन, मृतकवत् शयन अर्थात् मृतकासन तथा मकर मुख और हस्थिशुंडादि आसनों द्वारा जो जीव का दमन किया जाता है, वह कायकलेश तप है।

शंका - यह किसलिए किया जाता है ?

समाधान - शीत, वात और आतप के द्वारा, बहुत उपवासों द्वारा, तृष्णा, क्षुधा आदि बाधाओं द्वारा और विसंस्थुल आसनों द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए किया जाता है, क्योंकि जिसने शीतबाधा और उपवास आदि की बाधा का अभ्यास नहीं किया है और जो मरणान्तिक असाता से खिन्न हुआ है उसके ध्यान नहीं बन सकता।

अनादि काल से जीव अज्ञान मोह-रागादि के कारण आत्मा से संपूर्ण भिन्न

मूर्तिक स्व शरीर को अपना मानकर शरीर का पोषण, संरक्षण करता आ रहा है। यहाँ तक कि वहिरात्मा दृष्टि वाले जीव शरीर को ही स्वस्वरूप मानकर शरीर की उत्पत्ति को अपना जन्म, नाश को अपना मरण, शरीर की क्षति को ही अपनी क्षति तथा शरीर की वृद्धि को ही अपनी वृद्धि मानते हैं। परंतु जब अंतरात्मा दृष्टि हो जाती है तब वह अपने शरीर को स्वयं से भिन्न मानते हुए भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की मंदता से क्षीण शक्ति होने के कारण शरीर के सुख-दुःख से स्वयं भी प्रभावित हो जाता है। आत्मसाधना के लिए शरीर एक माध्यम है - साधक है परंतु शरीर के प्रति ममत्व भाव, आसक्ति भाव, रागभाव रखकर सुखासीन होकर आत्म कल्याण न करने से शरीर आत्म साधना के लिए बाधक हो जाता है। इसीलिए प्रतिकूल परिस्थिति, उपसर्ग, परिषह के समय में आत्मसाधक शरीर के सुखासन के कारण नहीं डिग जाय, शरीर प्रतिकूल समय में दुःख सहन करने योग्य हो जाये इसलिए पहले से ही शरीर को दुःख सहने योग्य अभ्यास करवाना चाहिये। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है -

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।

तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ 102 (समाधिशतक)

बिना कायक्लेश के भावना किया गया आत्मस्वरूप का ज्ञान शारीरिक कष्ट आ जाने पर छूट जाता है। इस कारण आत्मध्यानी मुनि यथा-शक्ति परिषह सहन तथा उपसर्ग सहन आदि शारीरिक कष्टों के साथ आत्मचिंतन रूपी ध्यान करें।

दुःख सहन करने योग्य शरीर को बनाने के लिए पहले से ही वृक्ष मूल में निवास करना, विभिन्न आसन में स्थिर होकर ध्यानाध्ययन करना चाहिए। अपनी शक्ति को छिपाकर जो तपश्चरण आदि नहीं करता है वह सुखासीन प्रमादी ही हो जाता है। इससे उसका वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता नहीं वरन् वीर्यान्तराय कर्म का बंध होता है। जिससे आगे उसको शक्ति प्राप्त नहीं होती है। शक्ति के अभाव से आत्म-साधन करना कष्टसाध्य अथवा असंभव हो जाता है।

यदि बाह्य कायक्लेश रूप तप से आत्मविशुद्धि रूप अंतरंग तप वृद्धिंगत नहीं होता है तो बाह्य कायक्लेश रूपी तप, तप की परिसीमा से बाहर निकल जाता है; वह तप न होकर किलेष कुच्छु शरीर दंडन ही हो जाता है। इसलिए साधक को कायक्लेश के साथ-साथ आत्मविशुद्धि रूप अंतरंग तप भी होना आवश्यक है।

6) एकान्त वास (विविक्त शयनासन) तप :- त्थी-पुस-संदयादीहि ज्ञानं-ज्ञेय-विग्न कारणेहि वज्जिय गिरिगुहाकं दर-पब्भार-सुसाण-सुण्हरारामुज्जाणाओ पदेसा विवितं णाम। तत्थ सयणासणाभिग्नाहो विवितसयणासणं णाम तवो होदि। किमद्वेषो कीरदे ? असब्भजणदंसणेण तस्मह वासेण जणिद तिकाल

विसयराग-दोसपरिहरणदं। (ध्वला पु. 13 पृ. 58)

ध्यान और ध्येय में विघ्न के कारण भूत स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से रहित गिरि की गुफा, कंदरा, पब्भार (गिरि-गुफा), शमशान और आसन का नियम करना विविक्तशयनासन नाम का तप है।

शंका - यह विविक्तशयनासन तप किसलिए किया जाता है ?

समाधान - असभ्य जनों के देखने से और उनके सहवास से उत्पन्न हुए त्रिकाल विषयक दोषों को दूर करने के लिए किया जाता है।

बाह्य तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृण्हणार्थम् ।

ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृत्तिषेऽतिशयोपपत्रे ॥ 8

(स्व. स्तोत्र)

(हे कुंथु जिनेन्द्र !) आपने आध्यात्मिक तप को बढ़ाने के लिए अत्यन्त दुश्चर बाह्य तप का आचरण किया और प्रारम्भ के दो मलिन ध्यानों को छोड़कर अतिशय को प्राप्त उत्तर के दो ध्यानों में प्रवृत्ति की।

बाह्य संज्ञाका कारण - कथमेदस्स बज्ज्ञसण्णा ? अप्पणो पुधभूदेहि मिच्छाइड्हीहि विणव्वदि ति बज्ज्ञसण्णा ।

शंका - इसकी 'बाह्य' संज्ञा किस कारण से है ?

समाधान - यह अपने पृथग्भूत मिथ्यादृष्टियों के द्वारा भी जाना जाता है, इसीलिए इसकी 'बाह्य' संज्ञा है।

अंतरंग तप

संपहि छव्विह अब्दंतर तव मरुव निरुवण कस्सामो ।

छह प्रकार के आध्यन्तर तप के स्वरूप का कथन करते हैं।

अंतरंग तप के भेद :-

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्गध्यानान्वत्तरम् ॥ 20(त.सूत्र)

1) प्रायश्चित्त, 2) विनय, 3) वैयावृत्य, 4) स्वाध्याय, 5) व्युत्सर्ग और 6) ध्यान। ये छह प्रकार के आध्यन्तर तप हैं।

1) कृत दोष शोधन (प्रायश्चित्त-चित्त शोधन) तप :- कयावराहेण ससंवेय णिव्वेण सगावराहणिरायणद्वं जमणुद्वाणं कीरदि तप्याच्छित्तं णाम तवोकम्मं।

(ध. 13 पृ.59)

संवेग और निर्वेद से युक्त अपराध करने वाला साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है वह प्रायश्चित्त नाम का तप कर्म है। इस विषय में श्लोक-

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ।

उच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ 9

प्रायः यह पद लोकवाची है और चित्त से अभिप्राय उसके मन का है। इसलिए उस चित्त का ग्रहण करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए।

जब एक मनुष्य से किसी प्रकार का दोष हो जाता है तो उस दोष के कारण उसका अन्तरात्मा मलिन, दूषित और अपवित्र हो जाती है। अन्तरात्मा के दूषित होने के साथ-साथ अन्य लोग भी उसके प्रति मलिन, अपवित्र मनोभाव को धारण करते हैं। इसी प्रकर दोषी अन्तर्लोक (आत्मा) और बहिर्लोक (बाह्य जनसाधारण) में दूषित हो जाता है। जब तक वह दोषी अपना दोष परिमार्जन नहीं करता है तब तक वह दोनों तरफ से मलिन होकर पतित हो जाता है। इससे उसका धैर्य, साहस, आत्मगौरव आदि नाश होने से उसकी आध्यात्मिक शक्ति क्षीण हो जाती है। उपरोक्त दोष से अपने को उद्धार करने के लिए वह दोषी यथायोग्य स्वसाक्षी, गुरुसाक्षी, परसाक्षी पूर्वक दोषानुकूल प्रायश्चित्त लेकर आत्मविशुद्धि करता है। आत्मविशुद्धि के अनन्तर उसकी अंतरात्मा निर्मल पवित्र हो जाने से उसका धैर्य, साहस, वीर्य, आत्मगौरव वृद्धिगत होता है जिससे उसकी आध्यात्मिक शक्ति वृद्धिगत होती है। दोष स्वीकार करके, दोषपरिमार्जन करने से साधारण लोग भी उसकी प्रामाणिकता से प्रेरित होकर पहले जो दोषजनित दूषित भाव मन में था उसको निकाल फेंकते हैं। इसलिए प्रायश्चित्त से स्वशुद्धि के साथ-साथ लोगों की चित्तशुद्धि हो जाती है। इसलिए इसको प्रायश्चित्त तप कहते हैं।

प्रायश्चित्त के 10 भेद - तं च पायच्छित्तमालोचणा-प्पडिक्कमण-उभय-विवेग-विउसग्न-तव-च्छेद-मूल-परिहार-स्वसद्दहणभेदेण दसविहं ।

वह प्रायश्चित्त 1) आलोचना 2) प्रतिक्रमण 3) उभय 4) विवेक 5) व्युत्सर्ग 6) तप 7) छेद 8) मूल 9) परिहार 10) श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है। इस विषय में गाथा-

आलोयण पडिकमणे उभय-विवेगे तहा विउसग्नो ।

तवछेदो मूलं पि परिहारो चेव सद्दहणा ॥ 11

आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित्त के भेद हैं।

i) **स्वदोष प्रकाशन (आलोचना) प्रायश्चित्त :-** गुरुणामपरिस्वाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरुव्व थिराणे सगदोषणिवेयणमालोयाणा णाम प्रायच्छित्तं ।

अपरिसाव अर्थात् आस्व रहित, श्रुत के रहस्य का जानने वाले, वीतराग और रत्नत्रय में मेरु के समान स्थिर ऐसे गुरुओं के सामने अपने दोषों का निवेदन करना

आलोचना नाम का प्रायश्चित्त है।

ii) **पश्चात्ताप (प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त :-** गुरुणामालोचणाए विणा ससंवेग-णिव्वेयस्स पुणो प करेमि ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं । एदं कथ होदि ? अप्पावराहे गुरुहि विणा वट्टमाणाम्हि होदि ।

गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु का 'फिर से कभी ऐसा न करूँगा' यह कहकर अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका - यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है ?

समाधान - जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हो, तब यह प्रायश्चित्त होता है।

विश्व एवं काल अनादि है। इसलिए जीव भी अनादि काल से है। जीव के अनादि काल से होने से कर्मबंध भी अनादिकालीन है। जीव में भी अनंत शक्ति है एवं जीव को बांधने वाले कर्म में भी अनंत शक्ति है क्योंकि यदि कर्म में अनंत शक्ति नहीं होती है तो अनंत शक्ति संपन्न जीव को कर्म बांध नहीं सकता है। अनादि काल से कर्म में बंधा हुआ, कर्म से रचा हुआ एवं कर्म से संस्कारित जीव के ऊपर कर्म का अनुशासन अनादिकाल से पड़ा हुआ है। उस कर्म की प्रेरणा शक्ति इतनी तीव्र है कि कभी-कभी भेद विज्ञान संपन्न आत्मसाधक महासत्त्व वाले अंतरात्मा मुनि को भी पदस्थलित, पथचलित कर देती है। महान् तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक संत पूज्यपाद स्वामी ने इस अभिप्राय को लेकर कहा है -

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।

पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥ 45 समाधितंत्र ॥

अंतरात्मा आत्मतत्त्व को जानती हुई भी तथा शरीर से भिन्न आत्मा की भावना करती हुई भी, मानती हुई भी फिर भी पुराने बहिरात्मावस्था के मिथ्यासंस्कार से शरीर को आत्मा समझ लेने के भ्रम को कर बैठती है।

आत्मसाधक अनिच्छापूर्वक कर्म की तीव्र शक्ति से घात-प्रतिघात को प्राप्त करके कदाचित्, कथश्चित् स्वलक्ष्य मार्ग से स्वलित होने पर प्रमादी होकर नीचे पड़ा नहीं रहता है। वह पुनः नवचेतना, नवस्फूर्ति, नवशक्ति लेकर खड़ा हो जाता है। पदस्थलित के कारण वह अपना पश्चात्ताप स्वसाक्षी, परसाक्षी पूर्वक करता हुआ दोष का परिमार्जन करता है। त्रुटि होने पर त्रुटि को स्वीकार करना, पुनः त्रुटि नहीं होवें तदनुकूल सतत् पुरुषार्थ करना प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त है। इससे साधक को सरलता, आत्मविशुद्धि की भावना स्पष्ट व्यञ्जित होती है एवं पुष्ट होती है। इससे आत्मा की दुर्बलता नष्ट होती

है एवं आत्मा दृढ़ हो जाती है। मनुष्य में उन्नति करने की जितनी प्रणालियाँ हैं उसमें सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है स्व-दोष स्वीकार करना, परिमार्जन करना एवं उस दोष को आगे नहीं होने देना है। प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त आदि से उसकी प्रामाणिकता अधिक से अधिक निखर उठती है। आत्मविश्वास के साथ-साथ यह लोक विश्वास का भी सम्पादन करता है।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोगों की चिकित्सा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, स्वदोष स्वीकार आदि से करते हैं। अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोग मानसिक तनाव से उत्पन्न होते हैं। मानसिक तनाव का मूल कारण असत् आचरण, अनैतिक आचार-विचार, दूसरों के प्रति ईर्ष्या, धृणा, द्रेष के साथ-साथ प्रगट एवं अप्रगट रूप में दोषकर कार्य करना है। उपरोक्त कारण से मन में, अन्तःचेतना में, अवचेतन मन में एक प्रकार मानसिक असंतुलन, विक्षोभ उत्पन्न होकर मानसिक, भावात्मक ग्रंथि पड़ जाती है। ये ही मानसिक तनाव शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण बन जाते हैं। जब तक आत्म विश्लेषण, आत्म निरीक्षण, स्वदोष स्वीकार, पश्चात्ताप, निंदा, गर्हा नहीं किया जाता है तब तक मानसिक, भावनात्मक ग्रंथि, तनाव, मानसिक एवं शारीरिक रोग विभिन्न भौतिक एवं शारीरिक चिकित्सा से भी दूर नहीं हो सकते हैं। निंदा, गर्हा, पश्चात्ताप आदि के बिना केवल भौतिक एवं शारीरिक चिकित्सा से अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग ठीक नहीं हो पाते हैं। इसका विशेष वर्णन मेरे द्वारा लिखित “धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान” के मनोवैज्ञानिक चिकित्सा प्रकरण में किया गया है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि स्वकृत दोष निवारण के साथ-साथ दूसरे के विश्वास भाजन के साथ हि शारीरिक-मानसिक रोग निवारण के लिए अमोघ उपाय हैं।

आत्मनिंदा से बचा मुनि

आलोचना, गर्हा, आत्मनिंदा, ब्रत, उपवास, स्तुति और कथाएँ इसके द्वारा प्रमाद को (असावधानी को) नाश करना चाहिए। जैसे - मंत्र, औषधि आदि से विष का वेग नाश किया जाता है। इसी सम्बन्ध में यह कथा है।

भारत के किसी एक हिस्से में बसे एक पुण्ड्रक देश के प्रधान शहर देवीकोटपुर में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। सोमशर्मा वेद और वेदांग का-व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा और कला का अच्छा विद्वान् था। उसकी स्त्री का नाम सोमित्या था और इसके अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो लड़के थे।

यहाँ विष्णुदत्त नाम का एक और ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्री का नाम विष्णुश्री था। विष्णुदत्त अच्छा धनी था पर स्वभाव का अच्छा आदमी न था। किसी

दिन कोई खास जरूरत पड़ने पर सोमशर्मा ने विष्णुदत्त से कुछ रूपया कर्ज लिया था। उसका कर्ज अदा न कर पाया था कि एक दिन सोमशर्मा को किसी जैनमुनि के धर्मोपदेश से वैराग्य हो जाने से वह मुनि हो गया। वहाँ से बिहार कर वह कहीं अन्यत्र चला गया और दूसरे नगरों ओर गावाँ में धर्म का उपदेश करता हुआ एक बार फिर कोटपुर में आये। विष्णुदत्त ने तब उन्हें देखकर पकड़ लिया और कहा -साधुजी ! आपके दोनों लड़के तो इस समय महादरिद्र दशा में हैं। उनके पास एक फूटी कीड़ी तक नहीं है। वे मेरा रूपया नहीं दे सकते, इसलिए या तो आप मेरा रूपया दे दीजिए या अपना धर्म बेच दीजिए। सोमशर्म मुनि के सामने बड़ी कठीन समस्या उत्पन्न हुई। वे क्या करें, इसकी उन्हें सूझ न पड़ी। तब उनके गुरु वीरभद्राचार्य ने उनसे कहा - अच्छा, तुम जाओ और अपना धर्म बेचो। उनकी आज्ञा पाकर सोमशर्म मुनि शमशान में जाकर धर्म बेचने लगे। इस समय उनसे एक देवी ने पूछा - मुनिराज आप जिस धर्म को बेच रहे हो भला कहिये तो ये कैसा है ? उत्तर में मुनि ने कहा - मेरा धर्म 28 मुलगुण और 84 लाख उत्तरगुणों से युक्त है तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन दश भेद रूप है। धर्म का स्वरूप श्रीजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। मुनि द्वारा अपने बेचे जाने वाले धर्म की इस प्रकार व्याख्या सुनकर देवी बहुत प्रसन्न हुई। उसने मुनि को नमस्कार कर धर्म की प्रशंसा में कहा-मुनिराज आपने जो कहा वह बहुत ठीक है। यही धर्म संसार को वश करने के लिए वशीकरण मंत्र है, अमूल्य चिंतामणी है, सुखरूप अमृत की धारा है और मनचाही वस्तुओं के दुहने के लिए कामधेनु है। अधिक क्या किंतु यह समझना चाहिए कि संसार में जो-जो मनोहरता जान पड़ती है वह सब एक धर्म का ही फल है। धर्म एक सर्वोत्तम अमोल वस्तु है, उसका मोल हो ही नहीं सकता। पर मुनिराज आपको उस ब्राह्मण का कर्ज चुकाना है। आपका यह उपर्याप्त दूर हो, इसलिए दीक्षा समय लोंच किए आपके बालों को उसके कर्ज के बदले दे देती हैं। यह कहकर देवी अपनी देवी माया से उन बालों को चमकते हुए बहुमूल्य रत्न बनाकर आप अपने स्थान पर चली गई। सच है जैन धर्म के प्रभाव का कौन वर्णन कर सकता है, जो कि सदा सुख देने वाला है और जिसकी देवों द्वारा पूजा की जाती है ?

सवेरा होने पर विष्णुदत्त सोमशर्म मुनि के तप का प्रभाव देखकर चकित रह गया। उसकी मुनि पर तब बड़ी श्रद्धा हो गई। उसने नमस्कार कर उनकी प्रशंसा में कहा-योगिराज आप बड़े ही भाग्यशाली है। आपके सरीखा विद्वान् और धीर मैंने नहीं देखा। यह आप ही जैसे महात्माओं का काम है जो मोहपाश तोड़कर दुःसह तपस्या कर रहे हैं। महाराज मैं आपकी किन शब्दों में स्तुति करूँ, यह मुझे नहीं जान पड़ता। आपने तो जीवन को सफल बना लिया, पर हाय ! मैं पापी, पापकर्म के उदय से धनरूपी चोरों द्वारा

ठगा गया। मैं अब इनके पैचीले जाल से कैसे छूटूँगा। दयासागर ! मुझे बचाइये ! नाथ, अब तो मैं आपके ही चरणों की सेवा करूँगा। आपकी ही सेवा को अपना ध्येय बनाऊँगा। तब ही कहीं मेरा भला होगा। इस प्रकार बड़ी देर तक उसने स्तुति की। अन्त में प्रार्थना कर उनसे दीक्षा ले मुनि हो गया। जो विष्णुदत्त एक ही दिन पहले मुनि की इज्जत-प्रतिष्ठा बिगाड़ने को हाथ धोकर उनके पीछे पड़ा था, और मुनि को उपसर्ग कर जिसने पाप बाँधा था वही गुरुमती से स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र हो गया। सच है, धर्म की शरण ग्रहण कर सभी सुखी होते हैं। विष्णुदत्त के सिवाय और भी बहुत से भव्यजन जैन धर्म का ऐसा प्रभाव देखकर जैन धर्म के प्रेमी हो गए और उस धन से जिसे देवी ने मुनि के बालों को रत्नों के रूप में बनाया था, किसी तीर्थ के नाम से बड़ा ही सुंदर जिनमंदिर बनवा दिया, जिसमें धर्मसाधना कर भव्यजन सुख-शांति लाभ करते थे। (आराधना कथा कोष)

पृथ्वीतापात् फलश्चयुति

अयोध्या में एक सर्वोपाध्याय नाम का ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्री का नाम वीरा था। इसका चाल चलन अच्छा न था। जवानी के जोर में यह मस्त रहती थी। उपध्याय के घर पर एक विद्यार्थी पढ़ा करता था। उसका नाम अग्निभूति था। वीरा ब्राह्मणी के साथ उसकी अनुचित प्रीति थी। ब्राह्मणी इसे बहुत चाहती थी; पर उपाध्याय इनके सुख का काँटा बना था। इसलिए ये मनमाना ऐशो-आराम न कर पाते थे। ब्राह्मणी को यह बहुत खटका करता था। सो एक दिन उसने मौका पाकर अपने पति को मार डाला और शमशान में फेंक आने को छत्री में छुपाकर अंधेरी रात में वह घर से निकली। शमशान में जैसे ही वह उपाध्याय के मूर्दे को फेंकने को तैयार हुई कि, एक व्यन्तर देवी ने उसके नीच कर्म पर गुस्सा होकर छत्री को कील दिया और कहा - “सर्वेरा होने पर जब तु सारे शहर की स्त्रियों के घर-घर पर जाकर अपना यह नीच कर्म प्रकट करेगी अपने कर्म पर पछतायेगी तब तेरे सिर पर से यह छत्री गिरेगी।” देवी के कहे अनुसार ब्राह्मणी ने वैसा ही किया। आत्मनिंदा से ब्राह्मणी का पापकर्म बहुत हल्का हो गया, वह शुद्ध हुई। इस तरह अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे प्रतिदिन होने वाले बुरे कर्मों की गुरुओं के पास आलोचना किया करे। उससे उनका पाप नष्ट होगा और अपने आत्मा को ही शुद्ध बना सकेंगे।

यदि किसी पुरुष के शरीर में काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है, तो जब तक वह काँटा उसके शरीर से नहीं निकलेगा तब तक वह सुखी नहीं हो सकता है। इसलिए उस काँटे को निकाल फेंककर जैसे वह पुरुष सुखी होता है, उसी तरह जो आत्म-हितैषी जैन धर्म के बताये सिद्धान्त पर चलने वाले वीतरागी साधुओं की शरण ले अपनी आत्माको कष्ट पहँचाने वाले पापकर्म रूपी काँटे को कतकर्मों को अग्नलोकज्ञ

द्वारा निकाल फेंकते हैं वे फिर कभी नाश न होने वाली आध्यात्मिक लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

भाव परिष्कार : सही उपचार-उदाहरण-1

एक स्त्री अपने पति के कटु-व्यवहार से अत्यन्त दुःखी थी। इस दुःख के कारण उस स्त्री की मृत्यु हो गयी। इससे पति को बहुत बड़ा मानसिक (आधात) धक्का लगा जिससे वह क्षयरोग से ग्रस्त हो गया। मनोवैज्ञानिक परीक्षण हुआ। परीक्षण से पता चला कि इस रोग का कारण शारीरिक न होकर मानसिक है और मानसिक कारण है आत्मग्लानि। डाक्टरों ने योग्य मानसिक चिकित्सालय में उनको भेज दिया। मानसिक चिकित्सा से कुछ ही दिनों में वे क्षयरोग से मुक्त हो गये।

(प्रायश्चित्त) एक मनोवैज्ञानिक विक्रित्या विधि -उदाहरण-2

विदेश में एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ‘डॉ. कलरे संलीव’ जब सिरदर्द, अनिद्रा, हाइपर एसिडिटी आदि रोग से ग्रस्त व्याधि का कारण शारीरिक दृष्टिकोण से शोध कर न सके तब उसने पूरे आत्मीय एवं प्रेमभाव से रोगी से कहा- बेटे सच बताओं, तुम्हारे मन में क्या दबा हुआ है? तुम्हारे अन्तर्गं की बात बताने पर ही सम्भव है कि मैं रोग का सही-सही निदान एवं उपचार कर सकूँ।

तब रोगी डॉ. संलीव के प्रेम सुझाव से बोला - मेरा एक भाई विदेश में रहता है उसे धोखा देने का पाप मेरे मन में आ गया। फलतः मैं पैतृक सम्पत्ति में जो मेरे भाई का हिस्सा है, उसे हड्पने के पड़यन्त्र (जालसाजी) में संलग्न हूँ। डॉ. संलीव ने रोग का वैज्ञानिक कारण खोज निकाला। डॉ. ने रोगी को निरोग हो जाने का आश्वासन दिया। उससे भाई के नाम एक पत्र लिखवाया। उस पत्र में रोगी ने अपने कृत कारनामे को स्पष्ट स्वीकार किया और उस त्रुटि के लिए भाई से क्षमा मांगी। डॉ. साहब ने प्रायश्चित्त के स्वरूप उससे हड्पने की राशि का चेक लिखवाया व डॉ. साहब ने लेटर बॉक्स तक रोगी के साथ जाकर पत्र पेटी में डाल दिया। पत्र डालते ही रोगी फूट-फूटकर रोने लगा। उसने कहा कि धन्यवाद डॉ. साहब! अब मेरी सभी बीमारियाँ दूर हो गयी हैं। तब से वह रोगी सम्पूर्ण रूप से निरोगी हो गया।

धर्मिक दृष्टिकोण से इसी को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त विधि प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में है। विशेष करके जैन धर्म में। प्रातःकाल एवं संध्या के समय प्रायश्चित्त लेने का विधान है।

रात्रि में किये गये ज्ञात, अज्ञात या प्रमादवशतः निम्नश्रेणीय कीटपतंग से लेकर उच्च स्तरीय मानव तक किसी के प्रति भी किसी भी प्रकार मन से, वचन से, काया से जूँड़े ता तासेज जाग्ना जाग्ना ता से रब-गायी जाग्ना जाग्ना श्रावन्ति श्रावा

याचनापूर्वक प्रायश्चित्त प्रातःकाल लेते हैं। इसी प्रकार दैवसिक अपराध के लिए संध्या के समय प्रायश्चित्त लेते हैं। जैनों के प्रतिक्रमण में आद्य पाठ निम्न प्रकार है -

जीवे प्रमाद जनिताः प्रचुरा प्रदोषा ।

यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रवान्ति ॥ 1 प्रतिक्रमण पाठ

प्रमाद (असावधान) वशतः जीवों के प्रति प्रचुर रूप से जो दोष होते हैं वे दोष प्रतिक्रमण के माध्यम से नष्ट हो जाते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ - कृत दोष को स्वीकार करना। कोई व्यक्ति, अन्याय, अनुचित, अनैतिक, अधार्मिक कार्य करते ही उसकी अन्तर्चेतना जान लेती है कि कुछ विपरीत व अप्राकृतिक कार्य हुआ है, इससे मानसिक शांति व सन्तुलन बिगड़ जाता है, जिससे शरीर का नाड़ीतंत्र व ग्रंथितंत्र प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। फलतः मानसिक अस्वस्थता हो जाती है। उस मानसिक अस्वस्थता के कारण शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है। जब तक भूल का सुधार नहीं हो जाता तब तक यह मानसिक और शारीरिक अस्वस्थता बनी रहती है। भूल का सुधार होते ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। पहले धर्मात्मा लोग दोष होने के बाद इसीलिए क्षमा-याचना करते थे।

खम्मामि सब्व जीवाणां सब्वे जीवा खमंतु मे ।

मित्ती मे सब्व भूदेसु वैरं मज्जां ण केणवि ॥ 3 पतिक्रमण पाठ

मैं सहृदय, सम्पूर्ण जीव-जगत् को क्षमा करता हूँ, सर्व जीव-जगत् मुझे भी क्षमा करें। सम्पूर्ण जीवों के प्रति मेरी मैत्री भावना है अर्थात् सम्पूर्ण जीव मेरे मित्र के समान हैं। किसी के प्रति भी मेरा वैर भाव नहीं है।

उदाहरण - 3

अमेरिका (न्यूजीलैंड) के एक “डॉ. नारमन वीसेंर पील”। वे चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक और न्यूजीलैंड के प्रवक्ता भी हैं। एक युवती ने डॉ. साहब से कहा - चर्च में आते ही मेरे शरीर में बुरी तरह से खुजली चलने लगती है और शरीर में लाल चकते हो जाते हैं। यदि यही हालत रही तो मुझे चर्च में आना छोड़ना पड़ेगा।

अन्तर्मन की पर्ती को कुरेदाने से (जांच करने पर) डॉ. साहब ने पाया कि यह “इंटरनल एग्जिमा” से पीड़ित है। इसका कारण शारीरिक और बाह्य नहीं है, इसका मानसिक एवं अन्तरङ्ग कारण है। “इमोशनल टेन्सन” भावात्मक तनाव के कारण इस प्रकार हुआ है। जब डॉ. ने युवती से पूछा तब युवती बोली - मैं एक बड़ी कम्पनी में एकाउंटेन्ट का काम कर रही थी उस अवधि में मैं गोल-माल करके थोड़ा धन चुराया करती थी। हर बार सोचती थी कि चुराई हुई रकम वापिस कर दूँगी लेकिन मैं ऐसा नहीं कर सकी। ऐसा कहकर वह फफकू-फफकू कर रोने लगी। तब डॉ. बोले - तुम्हारे मन में

अपराध की भावना घर कर गयी है, जब चर्च के पवित्र वातावरण में आती हो तब उसमें तीव्रता आ जाती है। यह रोग भावना क्षोभ जनित है। इससे छूटने का एक ही उपाय है ! मालिक के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लेना। तुम जाओ, मालिक के सामने अपना अपराध स्वीकार करो। इससे सम्भवतः आपको मालिक कार्य से निकाल भी सकता है। युवती वहाँ से मालिक के पास गई तथा पदवी को नहीं चाहते हुए समस्त वृतान्त स्पष्ट रूप से मालिक से कहकर क्षमा मांगी तब से उसका एग्जिमा रोग समाप्त हो गया तथा उसकी पदोन्नति हो गयी।

भय से अतिसार रोग हो जाता है, तथा चिंता से अपस्मार रोग होता है, डर से धड़कन बढ़ जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, तीव्र इर्ष्या और घृणा से अल्सर रोग हो जाता है, आत्म ग्लानि से क्षयरोग (टी.बी.) हो जाता है, अति स्त्री संभोग से टी.बी., कुष्ठ रोग, नपुंसकता आदि रोग हो जाते हैं। चिंता, क्रोध, घृणाभाव आदि से मानसिक विकृतियाँ हो जाती हैं जिससे मनुष्य को अनेक शारीरिक रोगों के साथ-साथ मानसिक रोग-पागलपन भी हो जाता है।

क्रोध से बुढापा -

गुस्सा, उदासी, चिंता, घृणादि भाव हमारी त्वचा पर एक गहरा असर डालते हैं। जिस समय हमें क्रोध आता है उस समय शरीर में एक ऐसे रस का संचार होने लगता है जो चेहरे की तरफ के रक्त संचार को रोकता है, इसके कारण त्वचा का रङ्ग पीला या विवर्ण हो जाता है। अधिक क्रोध आने पर चेहरे पर झुर्रियाँ जल्दी पड़ जाती हैं। खुश-संतोषी रहने पर चेहरे पर लाली और चमक रहती है, इस प्रकार चिंता या तनाव से केवल शारीरिक क्षति ही नहीं होती, बल्कि आन्तरिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। फलतः पाचन क्रिया पर भी दुष्परिणाम पड़ता है जिससे पाचनक्रिया भी बिगड़ने लगती है। अन्ततः हृदय की अन्यान्य बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार मानसिक दूषित भाव शरीर के ऊपर, मन के ऊपर, आत्मा के ऊपर, स्व-पर के ऊपर दूषित प्रभाव डालता है। इन दूषित भावों से केवल इहलोक नहीं किंतु परलोक में भी अनेक कष्टों को उठाना पड़ता है।

उदाहरण - 4

एक युवा अफसर ने, जो कुछ दिनों की छुट्टी लेकर घर आया था, मुझसे अपनी सास का इलाज करने के लिए कहा। उसकी सास बड़ी सुखदायक परिस्थितियों में रह रही थी फिर भी अपने और अपने परिवार के जीवन में एक निरर्थक विचार द्वारा कड़वाहट भर रही थी। मैंने देखा कि वह 53 वर्ष की मधुर और सरल स्वभाव वाली महिला थी और उसने बिना संकोच अपने बारे में निम्न वृतान्त बताया - वह अपने

विवाह से बड़ी सुखी थी। अपने पति के साथ, जो एक बड़ी फैक्ट्री का मैनेजर है, देहात में रहती है, उसका पति हद से ज्यादा दयालु है। उन्होंने 30 वर्ष पहले प्रेम विवाह किया था और तब से उनमें कभी मन-मुटाव, झगड़ा या क्षणभर की भी ईर्ष्या पैदा नहीं हुई थी। उनके दोनों बच्चों का विवाह बहुत अच्छी जगह हुआ, पर उसका पति अपनी कर्तव्य-भावना के कारण अब भी कार्य में जुटा हुआ है। एक वर्ष पहले एक अविश्वसनीय और उसकी समझ में न आने वाली बात हुई। उसे किसी ने बिना नाम का पत्र लिखकर यह सूचना दी कि उसका गुणी पति एक नौजवान लड़की से सांठगाँठ कर रहा है और उसने तुरन्त इस बात पर विश्वास कर लिया, तब से उसका सुख नष्ट हो गया है। विस्तृत विवरण कुछ-कुछ इस प्रकार था - उसके यहाँ एक नौकरानी थी जिसके साथ वह अपनी निजी बातचीत काफी खुलकर किया करता था। इस नौजवान औरत के मन में एक और लड़की के प्रति बड़ी तीव्र धृणा थी जो खास अच्छे घर की न होते हुए भी जीवन में उसकी अपेक्षा अधिक सफल हुई थी। दूसरी नवयुवती ने नौकरी करने के बजाय व्यापार कोर्स की शिक्षा हासिल की थी और वह फैक्ट्री में नौकरानी हो गयी थी, जहाँ कुछ कर्मचारियों को बाहर काम करने के लिये भेजने से कुछ स्थान खाली हो गये और इस तरह वह अच्छे पद पर पहुँच गयी थी। वह फैक्ट्री में रहती थी, सब भले मानसों को जानती थी और सब लोग "मिस" कहकर पुकारते थे। जो औरत जिंदगी में पिछड़ गयी थी, वह अपनी सहपाठिन पर तरह-तरह के दोष लगाया करती थी। एक दिन हमारी रोगिणी और उसकी नौकरानी एक बड़ी उम्र के आदमी के बारे में बातचीत कर रही थी, जो उसके घर आया था और जिसके बारे में यह कहा जाता था कि वह अपने पत्नी के साथ नहीं रहता है और उसने एक रखैल रखी हुई है। क्यों रखी हुई है यह वह नहीं जानती थी पर उसने एकाएक कहा - इससे भयङ्कर किसी बात की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती कि मेरा पति रखैल रखता है। अगले दिन डाक से उसे बनावटी लिखावट में लिखा हुआ प्रेषक के नाम से रहित एक पत्र मिला, जिसमें वही सूचना दी गयी थी जिसकी उसने अभी कल्पना की थी। उसने शायद ठीक निष्कर्ष निकाला कि वह पत्र लिखना उस जलनखोर नौकरानी का काम था क्योंकि जिस स्त्री को उसके पति की रखैल बताया गया था, वह वही लड़की थी जिससे यह नौकरानी बड़ी धृणा करती थी। यद्यपि उसे तुरन्त यह घड़यंत्र समझ में आ गया और वह अपने चारों ओर ऐसे कायरतापूर्ण दोषारोपण इतने अधिक देख चुकी थी कि उन पर बिल्कुल विश्वास नहीं करती थी, तो भी इस पत्र से हमारी रोगिणी बहुत उत्तिजित हो गई और उसने बुरा-भला कहने के लिए अपने पति को तुरन्त बुलवाया। पति ने हँसते हुए इस दोषारोपण का खण्डन किया और अपने पारिवारिक चिकित्सक को (जो फैक्ट्री का डॉक्टर भी था) बुलावा भेजा और उसने

उस दुःखी महिला को शांत करने की कोशिश की। उन्होंने जो अगला कदम उठाया, वह भी बहुत तर्कसंगत था। नौकरानी को बरखास्त कर दिया, पर जिसे रखैल बताया गया था उसे कुछ नहीं कहा गया। रोगिणी का कहना है कि तब से मैंने इस मामले पर शांति से विचार करने की कोशिश भी की और मैं उस पत्र की बातों पर विश्वास नहीं करती पर यह धारणा कभी बहुत गहरी नहीं गयी और न कभी बहुत दिन कायम रही। उस नवयुवती का नाम सुनकर या सड़क पर उसे देखकर ही सन्देह, पीड़ा और निंदा का नया दौर शुरू हो जाता है।

यह इस गुणवती स्त्री के "केस" का रोग - चित्र है। मनःचिकित्सा का बहुत अनुभव न रखने वाले को भी यह समझ में आ जायेगा कि दूसरे स्नायुरोगियों से इस केस में यह भेद है कि रोगिणी अपने लक्षणों को बहुत हल्के रूप से पेश करती थी और उन्हें प्रच्छन्न करती थी अर्थात् छिपाती थी और असल में उस गुमनाम पत्र से उसका विश्वास कभी नहीं हट सका।

अब प्रश्न यह है कि ऐसे केस में मनःचिकित्सक का क्या रुख होता है। यह तो हम पहले ही जानते हैं कि जो रोगी प्रतीक्षा - कक्ष के किवाड बन्द नहीं करता, उसके लाक्षणिक कार्य के बारे में वह क्या कहेगा। वह इसे एक आकस्मिक घटना बताता है जिसमें मनोवैज्ञानिक दिलचस्पी की कोई बात नहीं है और इसलिए उसके सोचने की कोई चीज नहीं है पर इस ईर्ष्यालु महिला के केस में वही रवैया नहीं रख सकता। लाक्षणिक कार्य तो महत्वहीन दिखायी देता है, पर लक्षण इसे गम्भीर मामला बताते हैं। रोगियों को इससे घोर कष्ट हो रहा है और एक परिवार के टूटने का भय है। इसलिए इसमें मनःचिकित्सक लक्षण तो किसी विशेष गुण से नामांकित करने की कोशिश करता है। यह महिला मनोविभ्वय या विचार से अपने को पीड़ा दे रही है, उसे अर्थहीन नहीं कहा जा सकता। ऐसा सचमुच होता है कि बड़ी उम्र के पति नौजवान स्त्रियों से सम्बन्ध कायम कर लेते हैं, पर इसमें कुछ और चीज है जो अर्थहीन और समझ में न आने वाली है। रोगिणी के पास यह कल्पना करने के लिए उस गुमनाम चिठ्ठी के अलावा स्त्रीभर भी आधार नहीं है कि प्रेमी और विश्वासपत्र पति भी उसी वर्ग का आदमी हैं जैसे समाज में आमतौर से पाये जाते हैं। वह जानती है कि इस पत्र में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। वह इस पत्र के लिखे जाने का कारण संतोषजनक रीति से बता सकती है इसलिए उसे अपने आप से कह सकना चाहिए कि मेरी ईर्ष्या बिल्कुल निराधार है और यह ऐसी कहती भी है पर वह कष्ट इस तरह पा रही है मानो वह अपनी ईर्ष्या को बिल्कुल साधार मानती है। इस तरह के विचार, जिन पर यथार्थता का तर्क और दलीलें प्रभाव नहीं डाल सकती हैं, सर्व सम्मति से भ्रष्ट कहलाते हैं। इसलिए यह भली महिला ईर्ष्या के भ्रम से कष्ट पा रही है। स्पष्टतः इस

केस की सारभूत विशेषता यही है।

iii) उभय प्रायश्चित्त :- सगावराहं गुरुणमालोचिय गुरुसाक्खिया अपराहदो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं। एदं कत्थ होदि ? दुस्मुमिणदंसणसदिसु।

अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु द्वारा साक्षीपूर्वक अपराध से निवृत्त होना - उभय नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका - यह उभय प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान - यह दुःखप्रद देखने आदि अवसरों पर होता है।

iv) विवेक प्रायश्चित्त :- गण-गच्छ-दब्ब खेत्तादीहिंतो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं। एदं कत्थ होदि ? जम्हि सन्ते अणियतदोसो सा तम्हि होदि। उववासादीहि सह गच्छादिचागविहाणमेत्थेव णिवददि, उभयसछाणुवुत्तीदो।

गण, गच्छ, दब्ब और क्षेत्र आदि से अलग करना- विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका - यह विवेक पायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान - जिस दोष के होने से उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोष के होने पर यह प्रायश्चित्त होता है।

उभय शब्द की अनुवृत्ति होने से उपवास आदि के साथ जो गच्छादि के त्याग का विधान किया जाता है उसका अन्तर्भाव इसी विवेक प्रायश्चित्त में हो जाता है।

v) कायममत्व त्याग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त :- ज्ञाणेण सह कायमुज्जिदूण मुहूृत-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छाणं विउस्सणो णाम पायच्छित्तं। एथं वि दुसंजोगादीहि भंगुप्ती वतव्वा, उभय-सद्वस्स देसामासियतादो। सो कस्स होदि, क्यावराहस्स णाणेण दिङ्गवपयद्वास्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्स ओधसूरस्स साहुस्स होदि।

काय का उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, पक्ष और महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त है। यहाँ पर भी द्विसंयोग आदि की अपेक्षा भंगों की उत्पत्ति कहनी चाहिए। क्योंकि उभय शब्द देशार्थक है।

शंका - यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसके होता है।

समाधान - जिसने अपराध किया है किंतु जो अपने विमल ज्ञान से नौ पदार्थों को समझता है, वज्ज संहनन वाला है, शीतपात और आताप को सहन करने में समर्थ है तथा सामान्य रूप से शुर है, ऐसे साधु के होता है।

काय संबंधी ममत्व, मोह, राग, सुखासीनता का त्याग करना कायोत्सर्ग है। शरीर से ममत्वादि त्याग करने से मन स्थिर हो जाता है। मन-स्थिरता से ध्यान साधन सुचारू रूप से होता है। उस ध्यान से पूर्वोपार्जित पापकर्म धुल जाते हैं। अतः कायोत्सर्ग

कर्म नष्ट करने के लिए साधनभूत है।

समस्त शरीर को सहज रूप से ढीला छोड़कर एवं मानसिक संकल्प-विकल्प आदि को त्यागकर कायोत्सर्ग करने से शरीरिक तनाव दूर हो जाता है। शारीरिक तनाव केवल दूर नहीं होता है बल्कि उसके साथ-साथ मानसिक ग्रंथियाँ ढीली हो जाती हैं, शिथिल हो जाती है, टूट-फूट जाती है एवं नष्ट हो जाती है। इससे मन तनाव मुक्त होकर स्वच्छ निर्मल हो जाता है। इससे पापकर्म भी धुल जाते हैं।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक विकितसक भी मानसिक रोग दूर करने के लिए कायोत्सर्ग, शरीर-शिथिलीकरण, शवासन आदि करवाते हैं जिससे मानसिक तनाव के साथ-साथ शारीरिक तनाव भी दूर होकर रोगी अनेक रोगों से मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, कायोत्सर्ग से एक नवचेतना, नवस्फूर्ति मन में जाग उठती है।

कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर स्थिर एवं मन निस्पंद होने से पूर्वोपार्जित दोष जो कि अचेतन में सुप्त-रूप में संचित रहता है वह अवसर प्राप्त करके सचेतन मन में उभर उठता है जिससे दोषी को अपना दोष स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। तब वह साधक अपने दोष को दोष जानकर उससे अपनी आत्मिक क्षति पहचान कर दोषों का त्याग करता है। कुछ देश में अपराधी जब अपराध लेकर न्यायधीश के पास जाता है तब न्यायधीश उसको शांत चित्त से बैठने के लिए कहता है। वह जब कुछ समय स्थिर होकर बैठता है तब उसका तनाव, इर्षा-द्रेष कम होने से वह अपनी कुछ भूल को स्वीकार कर लेता है। कुछ बिना प्रतिवाद किए ही समाधान से वापस भी चले जाते हैं।

मनुष्य आवेश और तनाव की स्थिति में गलत सोच लेता है। उस स्थिति में वह कभी भी सही निर्णय नहीं ले सकता। यदि यह बात पूर्णतः समझ ली जाती है तो बहुत सारे वकीलों और जजों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। तनाव के कारण ही व्यक्ति न्यायालय की शरण में जाता है। वहाँ जाने वाला भी पछताता है, और नहीं जाने वाला भी पछताता है। वह बूर का लड्डू है। न खाने वाला भी पछताता है और खाने वाला भी पछताता है। यदि आवेश की स्थिति समाप्त हो जाए तो न्यायालय में चलने वाले 70% मुकदमे वैसे ही समाप्त हो जाते हैं।

मैंने सुना है कि पश्चिम जर्मनी में एक प्रयोग किया जा रहा है। जो व्यक्ति क्रिमिनल केस लेकर आता है, उसे 5-6 घण्टा बिठाया जाता है। फिर उससे पूछ-ताछ की जाती है। उन्होंने निष्कर्ष के रूप में बताया कि 70% व्यक्ति तो बिना शिकायत किए ही लौट जाते क्योंकि वे आवेश के वशीभूत होकर न्यायालय में आए थे। आवेश मिटा और वे शांत हो गए। (कैसे सोचे - आचार्य महाप्रज्ञ पृ. 21)

vi) तप (कायेन्द्रिय दमन) प्रायश्चित्त :- खवणायं बिल-णिविदि-

पुरिमंडलेयद्वाणाणि तवो णाम । एत्थु दुसंजोगा जोजेयव्वा । एवं कस्स होदि ? निविंदियस्स
जोव्वणभरत्थस्स बलवंतस्स सत्तसहायस्स कयावराहस्स होदि ।

उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति और दिवस के पूर्वार्ध में एकासन तप है। यहाँ
द्विसंयोगी भंगों की योजना कर लेनी चाहिए।

शंका - यह प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है ?

समाधान - जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान है, बलवान् है और सशक्त है,
ऐसे अपराधी साधु को दिया जाता है।

vii) संयमकाल हास (छेद) प्रायश्चित्त :- दिवस-पक्ख-मास-उदु-अयण-
संवच्छपरियायं छेत्तून इच्छिदपरियायादो हेड्मभूमीए ठवणं छेदोणाम पायच्छित्तं । एदं
कस्स होदि ? उवासादिखमस्स ओधबलस्स ओधसूरस्स गव्वियस्स कयावराहस्स साहुस्स
होदि ।

एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष आदि तक
की दिक्षा पर्याय का छेद कर इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना छेद
नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका - यह प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है ?

समाधान - जिसने अपराध किया है तथा जो उपवास आदि करने में समर्थ है
सब प्रकार बलवान् है, सब प्रकार शूर है और अभिमानी है ऐसे साधु को दिया जाता है।

viii) सम्पूर्ण संयम काल विच्छेद (मूल) प्रायश्चित्त :- सबं परियायमवहारिय
पुवो दक्खिणं मूलं णाम पायच्छित्तं । एदं कस्स होदि ? अवरिमिय अवराहस्स
पासत्थोसण्ण-कुसील-सच्छंदादि-उव्वट्टियस्स होदि ।

समस्त पर्याय का विच्छेद कर पुनः दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका - यह मूल प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है ?

समाधान - अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न,
कुशील और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्ग में स्थित है, उसे दिया जाता है।

ix) परिहार (अनवस्थाप्य और पारथिक) प्रायश्चित्त :- परिहारो दुविहो अणवड्हओ
परंचिओ होदि । तत्थ अणवड्हओ जहणोण छम्मास कालो उक्सेण बारसवासपेरंतो ।
काय भूमीदो परदो चेव कायविहारोड पडिवंदणविहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु
कयमोणाभिग्नाहे खवणायंबिलपुरिमहे यद्वाणणिव्वियदीहि सोसिहय-रसरुहिर-मांसो होदि ।
जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि, किंतु साधम्मियजियखेते समाचारेयव्वो ।
एत्थु उक्सेण छम्मासक्खवणं णव-दसपुव्वहरणं होदि ।

परिहार दो प्रकार का है - अनवस्थाप्य और पारथिक । उनमें से अनवस्थाप्य
परिहार का जघन्य काल 6 महीना और उत्कृष्ट काल 12 वर्ष है । वह कायभूमि से दूर
रहकर विहार करता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है, गुरु के सिवास अन्य सब साधुओं के
साथ मौन का नियम रखता है तथा उपवास, आचाम्ल, दिन के पूर्वार्ध में एकासन और
निर्विकृति आदि तर्पों द्वारा शरीर के रस, रुधिर और मांस का शोषित करने वाला है।

पारथिक तप भी इसी प्रकार होता है । किंतु इसे साधर्मी पुरुषों से रहित क्षेत्र में
आचरण करना चाहिये । इस में उत्कृष्ट रूप से छह मास के उपवास का भी उपदेश दिया
गया है । ये दोनों ही प्रकार के प्रायश्चित्त राजा के विरुद्ध आचरण करने पर और दसपूर्वों
को धारण करने पाले आचार्य करते हैं ।

x) श्रद्धान प्रायश्चित्त :- मिच्छत्तं गंतून ड्युस्स महव्याणि वेत्तून अत्तागम-
पसत्थसद्व्याणा चेव (सद्व्याण) पायच्छित्तं । (ध्वला पु. 13 पु. 93)

मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित हुए जीव के महाब्रतों को स्वीकार कर आप,
आगम और पदार्थों का श्रद्धान करने पर श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त होता है ।

2) विनय का रूप

आचार्य कुंदकुंद ने मूलाचार में विनय के संबन्ध में निम्न प्रकार कहा है -

दंसणणाणेविणओ चरित्तवओचारिओ विणओ ।

पंचविहो खलु विणओ पंचमगडाणायगो भणिओ ॥ 364

दर्शन में विनय, ज्ञान में विनय, चारित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक
विनय यह पाँच प्रकार का विनय निश्चित रूप से पाँचवी गति अर्थात् मोक्ष गति में ले
जाने वाला प्रधान कहा गया है, ऐसा समझना अर्थात् विनय मोक्ष को प्राप्त कराने वाला
है ।

दर्शन विनय :-

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुण ।

संकादिवज्जनं पि य दंसणाविणओ समासेण ॥ 365

उपगुहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये पूर्व में कहे गये हैं तथा
पंचपरमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना, उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके
प्रति लगाये गये अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना और उनकी असादना
अर्थात् अवहेलना का परिहार करना- ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं । शंका, कांक्षा,
विचिकत्सा और अन्य दृष्टि प्रशंसा- इनका त्याग करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है ।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिङ्गा जिणवरेहिं सुदणाणे ।

ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ॥ 366

सूक्ष्म और वादर के भेद से जिन जीव, अजीव आदि पदार्थों का जिनेंद्र देव ने द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व रूप श्रुतज्ञान में स्पष्ट रूप से उपदेश दिया है, जो भव्य जीव उन पदार्थों का उसी प्रकार से जैसे का तैसा विश्वास करता है तथा जिस परिणाम से श्रद्धान करता है, वह परिणाम ही दर्शन विनय है।

ज्ञान विनय :-

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिणहवणे ।

वेजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अङ्गविहो ॥ 367

द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को काल शुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन-फेरना कालविनय है।

उन्हीं ग्रंथों का (या अन्य ग्रंथों का) हाथ, पैर धोकर पर्यकासन से बैठकर अध्ययन करना विनय शुद्धि नाम का ज्ञान विनय है। विनय विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रंथ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं, उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुभाव (बहुमान) है। उसी प्रकार से जिस ग्रंथ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रंथ या उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिहव है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यंजनशुद्ध विनय है, अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है और इन दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभयशुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिये।

ज्ञान की विशेषता :-

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।

णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥ 368

ज्ञान विद्या को प्राप्त करता है। ज्ञान अवगुण को गुणरूप में परिवर्तित करता है। ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय-सत्प्रवृत्ति करता है जो ऐसा करता है वह ज्ञान विनीत होता है।

प्रश्न - दर्शनाचार और दर्शन विनय में क्या अंतर है? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञानविनय में क्या अंतर है?

उत्तर - शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना दर्शनविनय है। पुनः शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है। उसी प्रकार काल शुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न करना काल विनय है तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। काल शुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में अर्थात् ग्रंथ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुतविनय है।

उसी प्रकार से जो तप से अज्ञानतम को दूर करता है और आत्मा को मोक्ष मार्ग के समीप करता है वह तपोविनय है और नियमितमति होना भी तप विनय है ऐसा जानना चाहिए।

चारित्रविनय का स्वरूप :-

इंदियकसायपणिहाणपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।

एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥ 369

चक्षु आदि इंद्रियाँ और क्रोधादि का प्रणिधान-प्रसार की हानि का होना अर्थात् इंद्रियों के प्रसार का निवारण करना और कषायों के प्रसार का निवारण करना। अथवा इंद्रिय और कषायों का परिणाम अर्थात् उनमें होने वाले व्यापार का निरोध करना - यह इंद्रिय कषाय प्रणिधान है। मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति गुमियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उच्चारप्रस्तवण प्रतिष्ठापना ये समितियाँ हैं। यह सब चारित्रविनय संक्षेप से कहा गया है। यहाँ पर भी समिति और गुमियाँ चारित्राचार हैं और उनकी रक्षा के उपाय में जो प्रयत्न है वह चारित्रविनय है।

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहिंयासणा य सद्वा च ।

आवासयाणमुचिदाणं अपरिहाणीणुस्सेहो ॥ 370

आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम-उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा-शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छः आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षय के लिए निर्मित हैं। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि नहीं करना अर्थात् ये आवश्यक छः ही हैं। इन्हें चार या पाँच नहीं करना तथा सात या आठ भी नहीं करना। जिस आवश्यक की जो वेला है उसी वेला में वह आवश्यक करना चाहिए, अन्य वेला में नहीं अन्यथा हानि वृद्धि हो जायेगी तथा जिस आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग बताये गए हैं उतने ही करना चाहिए, उनकी हानि या वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

भत्ती तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं ।

एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्त साहुस्स ॥ 371

जो तपश्चर्या में अपने से अधिक है वे तपोधिक होते हैं। उनमें तथा बारह प्रकार के तपश्चरण के अनुष्ठान में भक्ति अर्थात् अनुराग रखना। स्तुति के परिणाम को अथवा सेवा को भक्ति कहते हैं सो इनकी भक्ति करना। शेष जो मुनि अनुत्कृष्ट तप वाले हैं अर्थात् अधिक तपश्चरण नहीं करते हैं उनका तिरस्कार अपमान नहीं करना। सभी संयतों में प्रमाण की वृत्ति होना - यह सब तपोविनय है, जो कि आगमानुकूल चारित्रधारी साधु के होता है।

औपचारिक विनय -

काइयवाइयमाणसिओ ति अतिविहो दु पंचमो विणओ ।
सो पुण सब्बो दुविहो पञ्चक्खो तह परोक्खो ॥ 372

काय से होने वाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो सर्वा, मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप है। वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के तीन भेद हैं, और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष में हैं, चक्षु आदि इंद्रियों के गोचर हैं तब उनका विनय प्रत्यक्ष विनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे या दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्ष विनय है।

कायिक विनय का स्वरूप :-

अब्मुड्डाणं किदिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं ।
पच्चूगच्छणमेते पछिदस्सणुसाहणं चेव ॥ 372

मुण्ड अर्थात् ऋषियों को सामने देखकर आदरपूर्वक आसन से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके वंदना करना, अंजलि जोड़कर सिर झुका कर नमस्कार करना मुण्ड वंदना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करनेवाले के पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिए, उनको प्रति भक्ति पाठ करते हुए कृतिकर्म करना चाहिए तथा उन्हें अंजलि जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। साधुओं के आते समय सम्मुख जाकर स्वागत करना चाहिए और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे जाना चाहिए।

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसण सयणं ।

आसणदाणं उवगरणदाणं ओगासंदाणं च ॥ 374

देव और गुरु के सामने नीचे खड़ा होना (विनय से एक तरफ खड़े होना), गुरु के साथ चलते समय उनके बायें चलना या पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाठ आदि आसन को छोड़ देना, गुरु को आसन आदि देना, उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, वस्तिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु, को उसमें ठहरने के लिए निवेदन करना अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रस्त मुनि के प्रति हाथ-पैर संकुचित करके

बैठना। तास्य यही कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनप्रता रखना।

पडिस्त्रवकायसंफासणदा य पडिस्त्रवकालकिरिया च ।

पेसणकरणं संभरकरणं उवकरण पडिलिहणं ॥ 375

गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्णकाल में शीत क्रिया, शीतकाल में उष्ण क्रिया करना और वर्षा काल में उस ऋतु के अनुकूल योग्य क्रिया करना अर्थात् गुरु की सेवा आदि उनकी प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना, उनके लिए संस्तर अर्थात् चटाई, घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण

एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्मस्स ॥ 376

इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु का शरीर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है क्योंकि वह काय के आश्रित हैं।

वाचिक विनय का स्वरूप :-

पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च ।

सुताणुवीचिवयणं अणिङ्गुरमकक्षसं वयणं ॥ 377

आप भट्टारक, इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पूजावचन है। हितपथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के लिए कारणभूत वचन, हित वचन है। मित-परिमित बोलना जिसमें अल्प अक्षर हो किंतु अर्थ बहुत हो मित वचन है अर्थात् कानों के लिए सुखदारी वचन मधुर वचन है। आगम के अनुकूल बोलना कि जिस प्रकार से पाप न हो सूत्रानुविचि वचन है। तुम जलो, मरो, प्रलय को प्राप्त हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्टूर वचन है और कठोरता रहित वचन अकर्कश वचन है अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ।

एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादब्बो ॥ 378

क्रोध मान आदि से रहित वचन उपशांत वचन है। गृहस्थों के जो मकार-वकार आदि रूप वचन हैं उनसे रहित वचन तथा बन्धन, त्रासन ताडन आदि से रहित वचन अगृहस्थ वचन है। असि, मषि, कृषि आदि क्रियाओं से रहित वचन अक्रिय वचन है। अथवा सक्रिय ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना किंतु अन्य की चिंता और अन्य के दोष रूप वचन नहीं बोलने चाहिए। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिए किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नहीं बोलने चाहिए और भी ऐसे ही

वचन जहाँ होते हैं वह सब वाचिक विनय है जो कि यथायोग्य करना चाहिए।
मानसिक विनय का स्वरूप :-

पापविसोन्निअपरिणामवज्जनं पियहिदे य परिणामो ।

णादब्बो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ ॥ 379

हिंसादि को पाप कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना को विश्रुति कहते हैं। इन पाप और विराधना विषयक परिणामों का त्याग करना चाहिए। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यज्ञानादि के लिए हित संज्ञा है। इन प्रिय और हित में परिणाम को लगाना चाहिए। संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होने वाला मानसिक विनय कहलाता है।

इय एसो पच्चक्खो विणओ परोक्षिभओवि जं गुरुणो ।

विरहमिवि वट्टिज्जदि णिदेसचरियाए ॥ 380

यह सब ऊपर कहा गया है कि कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योंकि यह गुरु के रहते हुए उनके पास में किया जाता है और गुरुओं के विरह उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर है, उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्या करने से होता है अथवा अर्हन्त द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थों में श्रद्धान कारना तथा उनके द्वारा जो भी व्रत समिति आदि चर्याएँ कही गयी हैं, उस रूप में प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है। अर्थात् उनके प्रत्यक्ष में किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष में किया गया नमस्कार, आज्ञा पालन आदि परोक्ष विनय है।

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहा समासदो भणिओ ।

सत्त चउव्विह दुविहो बोधब्बो आणुपुब्बीए ॥ 381

जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करने वाला होता है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गये हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है, वाचिक विनय चार प्रकार का है और मानसिक विनय दो प्रकार का है।

अब्भुद्गाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च ।

किदियम्मं पडिरुवं आसणचाओ य अणुब्बज्जनं ॥ 382

अहवोवचारिओ खलु विणओ दुविहो समासदो होदि:

पाडिरुवकालकिरियाणासादणसीलदा चेव ॥

पडिरुवो काइगवाचिगमाणसिगो दु बोधब्बो ।

सत्त चदुव्विह दुविहो जहाकमं होदि भेदेण ॥ 382

अभ्युत्थान - गुरुओं को समाने आते हुए देखकर आदर से उठकर खडे हो जाना, सन्नति - सिर से प्रणाम करना, आसनदान-पीठ, काषासन, पाटा आदि देना, अनुप्रदान - पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना, प्रतिरूप क्रियाकर्म याथायोग्य - श्रुतभक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना अथवा गुरुओं के शरीर की प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा, सुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना, जैसे शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि। **आसनत्याग -** गुरु के सामने उच्चस्थान पर नहीं बैठना। **अनुब्रजन -** उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना। इस प्रकार से 1) अभ्युत्थान 2) सन्नति, 3) आसनदान, 4) अनुप्रदान, 5) प्रतिरूपक्रियाकर्म 6) आसनत्याग और 7) अनुब्रजन, ये सात प्रकार कायिक विनय के होते हैं।

अर्थात् धर्मात्मा के चित्त का अनुग्रहण करने वाला औपचारिक विनय संक्षेप से दो प्रकार है। प्रतिरूप काल क्रिया विनय - गुरुओं के अनुरूप काल आदि को देखकर क्रिया अर्थात् भक्ति सेवादि करना। अनासादनशीलता विनय - आचार्यों आदि की निंदा नहीं करने का स्वभाव होना, ऐसे दो भेद हैं। प्रतिरूपविनय कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का है। कायिक विनय सात प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का और मानसिक दो प्रकार का है।

वाचिक और मानसिक विनय के भेद :-

हिदमिदपरिमिदभासा आणुवीचीभाषणं च बोधब्बं ।

अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ॥ 383

हिदमिदमवअणुवीचिभासणो वाचेगो हवे विणओ ।

असुहमणसणिरोहो सुहमणसंकप्पगो तदिओ ॥ 383

हित भाषण- धर्म संयुक्त वचन बोलना, मित भाषण-जिसमें अक्षर अल्प हों, अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण-कारण सहित वचन बोलना अर्थात् अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, अनुवीचीभाषण-आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आस्रव करने वाले अशुभ मन को रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म में चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है। अर्थात् हितभाषण, मितभाषण, मृदुभाषण और आगम के अनुकूल भाषण यह वाचिक विनय है। अशुभ मन का निरोध करना और शुभ में मन लगाना ये दो मानसिक विनय के भेद हैं।

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दोनों प्रकार का विनय साधुओं को किनके प्रति करना चाहिए? ऐसा शंका होने पर कहते हैं -

विनय करने योग्य व्यक्ति :-

रादिणिए उणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवगे ।

विणओ जहारिओ सो कायब्बो अप्पमत्तेण ॥ 384

जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्याधिक गुरु हैं। यहाँ रात्र्याधिक शब्द से दीक्षागुरु, श्रुतगुरु और तप में अपने से बड़े गुरुओं को लिया है जो दीक्षा से एक रात्रि भी छोटे हैं वे उनरात्रिक कहलाते हैं। यहाँ पर उनरात्रिक से जो तप में कनिष्ठ लघु है, गुणों में लघु है और दीक्षा में लघु है, उन साधुओं को लिया है। इस प्रकार से दीक्षा आदि से बड़े गुरुओं में, अपने से छोटे मुनियों में, आर्थिकाओं में और अन्यों के भी जो योग्य हो, आर्थिकाओं के जो योग्य हो, श्रावक के जो योग्य हो और अन्यों के भी जो योग्य हो वैसा ही करना चाहिए। किसको? प्रमाद रहित साधु को अपने तप अर्थात् अपने ब्रतों के, अपने पद के अनुरूप ही प्रासुक द्रव्यादि के द्वारा अपनी शक्ति से उन सबका विनय करना चाहिए।

विनय की आवश्यकता :-

विणएण विष्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सब्बा ।

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सब्बकल्लाण ॥ 385

विनय से रहित साधु का संपूर्ण श्रुत का अध्ययन निरर्थक है। विद्या अध्ययन का फल विनय है और अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूप सर्वकल्याण को प्राप्त कर लेना विनय का फल है अथवा स्वर्गावितरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञानोत्पत्ति और परिनिर्वाण ये पंचकल्याणक आदि कल्याणों की प्राप्ति का होना भी विनय का फल है।

विनय फल सर्वकल्याण

विणओ मोक्खद्वारं विणयादो संज्ञमो तवो णाणं ।

विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सब्बसंघो य ॥ 386

विनय मोक्ष का द्वार है अर्थात् मोक्ष में प्रवेश करने वाला है। विनय से संयम होता है, विनय से तप होता है और विनय से ज्ञान होता है। विनय से आचार्य और सर्वसंघ आराधित किए जाते हैं अर्थात् अपने ऊपर अनुग्रह करने वाले हो जाते हैं।

आचारजीदकप्पगुणदीवणा अन्तसोधि णिजंजा ।

अज्यमद्वलाहवभत्तीपलहादकरणं च ॥ 387

विनय से, आचार के गुण जीदप्रायश्चित्त और कल्पप्रायश्चित्त के गुण तथा उनमें कहे हुए का अनुष्ठान, इन गुणों का दीपन अर्थात् प्रकटन होता है। विनय से आत्मशुद्धि अर्थात् आत्मा की कर्मों से निर्मुक्ति होती है, निर्द्वन्द्व-कलह आदि का अभाव हो जाता है। आर्जव-स्वस्थता आती है, मृदु का भाव मार्दव अर्थात् माया और मान का निरसन हो जाता है, लघु का भाव लाघव-निःसंगपना होता है अर्थात् लोभ का अभाव हो जाने से

भारीपन का अभाव हो जाता है। भक्ति-गुरु के प्रति भक्ति होने से गुरु सेवा भी होती है और विनय से प्रह्लादकरण सभी में सुख का उत्पन्न करना आ जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विनय करता है उसके उस विनय के द्वारा आचार, जीद और कल्प विषयक जो गुण हैं वे उद्योगिता होते हैं। आर्जव, मार्दव, लाघव, भक्ति और आह्लादकरण ये गुण विनय करने वाले में प्रकट हो जाते हैं।

कित्ति मित्ति माणस्स भंजण गुरुजणे य बहुमाणं ।

तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो या विणयगुणा ॥ 388

विनय से सर्वव्यापी प्रताप और ख्याती रूप कीर्ति होती है, सभी के साथ मित्रता होती है, गर्व का मर्दन होता है, गुरुजनों में बहुमान अर्थात् पूजा या आदर मिलता है, तीर्थझरों की आज्ञा का पालन होता है और गुणों की अनुमोदना की जाती है। ये सब विनय के गुण हैं। तात्पर्य यह है कि विनय करने वाला मुनि कीर्ति को प्राप्त होता है, सबसे मैत्री भाव को प्राप्त हो जाता है, अपने मान का अभाव करता है, गुरुजनों से बहुमान पाता है, तीर्थझरों की आज्ञा का पालन करता है और गुणों में अनुराग करता है।

सेवा (वैयावृत्य) तप :- व्यापदि यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् । तं च वेजावच्चं दसविह-आइरिय-उवज्ञाय-साहु-तपस्सि-सिक्खुव-गिलान-कुल-गण-संघ-मणुण्णवेजावच्चं चेदि । तत्थ कुलं पंचविहं पंचथूहकुलं गुहावासीकुलं सालमूलकुलं अशोगवाडकुलं संडकेसरकुलं । तिपुरिसओ गणो । तदुवरि गच्छो । आइरियादि गण-परेताणं महल्लावई-णिवदिदाणं समूहस्स जं बाहावणयणं तं संघवेजावच्चं णाम । आइरियेहि सम्मदाणं गिहत्थाणं दिक्खाभिमुहाणं वा जं कीरदे तं मणुण्णवेजावच्चं णाम । एवमेदं सब्बं विवेजावच्चं णाम तवोकम्मं । (ध्वल वर्गणाखंड पृ. ६३)

आपति (विपत्ति) के समय उसके निवारणार्थ जो किया जाय वह वैयावृत्य नाम का तप है। आचार्य, उपाध्याय, साधु, तपस्वी, शैक्ष, उपग्लान, कुल, गण, संघ और मनोज्ञों की वैयावृत्य के भेद से वह वैयावृत्य दस प्रकार का है। उनमें कुल पाँच प्रकार का है-पथस्तुप कुल, गुफावासी कुल, शालमूल कुल, अशोकबाट कुल और खण्ड केशर कुल। तीन पुरुषों के समुदाय को गण कहते हैं और इसके आगे गच्छ कहलाता है। महान् आपति में पड़े हुए आचार्य से लेकर गण पर्यंत सर्व साधुओं के समूह की बाधा दूर करना संघवैयावृत्य नाम का तप है। जो आचार्यों द्वारा सम्मत है और दीक्षाभिमुख गृहस्थ हैं उनकी वैयावृत्य करना, यह मनोज्ञ वैयावृत्य नाम का तप है। इस प्रकार यह सब वैयावृत्य नाम का तप है।

परोपकार सेवा (वैयावृत्य) से सर्वोदय :-

सत्तीए भत्तीए विजावच्चुज्जदा सदा होइ ।

आणाए णिजरिति य सबालउह्वाउले गच्छे ॥ 306 भ.आ.

बालमुनि और वृद्ध मुनियोंसे भरे हुए गण में सर्वज्ञकी आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्य करने में तत्पर रहो। वैयावृत्य तप है और तप से निर्जरा होती है।

सेजागासीणसेजा उवधी पडिलेहणउवगाहिदे ।

आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादिसु ॥ 307

सोनेके स्थान, बैठनेके स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखनाकरना, योग्य आहार योग्य औषधकादेना, स्वाध्याय करना, अशक्त मूनिके शरीरकामल शोधन करना, एक करवट सेदूसरी करवट लिटानायेउपकार वैयावृत्य है।

अट्टाणतेण सावयरायणदीरोहागासिवे ऊमे ।

वेजावच्चं उत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥ 308

जो मुनि मार्गके श्रमसेथक गयेहैं उनकेपैर आदिदबाना, जिन्हें चोरोंनेसताया है, जंगलीजानवरोंसे, दुष्टराजासे, नदीकोरोकनेवालोंसे और मारीरोगसेजोपीडितहैं, विद्या आदिसेउनकाउपद्रव दूरकरना, जो दुर्भिक्षमें फँसेहैं उन्हें सुभिक्षदेशमेंलाना, आपन डें इत्यादिरूपसेउन्हें धैर्यदेनातथाउनकासंरक्षणकरनावैयावृत्यकहाहै।

सेवा न करने से हानी :-

अणिगूहिदवलविरिओ जिणोवदेसेण ।

जोणण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिट्टम्मो ॥ 309

अपनेबलऔर वीर्यकोनछिपानेवालाजोमुनिसमर्थहोतेहुएभीजिनभगवान् केद्वाराकहेहुएक्रमकेअनुसारवैयावृत्यनहींकरताहैतोवहधर्मसेबहिष्कृतहोताहैयहइसगाथाकाअभिप्रायहै।

तिथ्यराणाकोवो सुदम्माविराधणा आणायारो ।

अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥ 310

वैयावृत्यनकरनेसेतीर्थङ्करोंकीआज्ञाकाभंगहोताहै, शास्त्रमेंकहेगयेधर्मकानाशहोताहै, आचारकालोपहोताहैऔरउसव्यक्तिकेद्वाराआत्मा, साधुवर्गऔरप्रवचनकपरित्यागहोताहै। तपमेंउद्योगनकरनेसेआत्माकात्यागहोताहैआपत्तिमेंउपकारनकरनेसेमुनिवर्गकात्यागहोताहै, औरशास्त्रनिहितआचरणनकरनेसेआगमकात्यागहोताहै।

वैयावृत्यकरनेमेंगुण :-

गुणपरिणामो सद्वा वच्छलं भत्तिपत्तलंभो य ।

संघाणं तव पूया अव्वोच्छिती समाधी य ॥ 311

वैयावृत्यकरनेकापहलागुणहै 1) गुणपरिणामअर्थात् जोवैयावृत्यकरताहैउसकीपीडितसाधुकेगुणोंमेंवासनाहोतीहैकिमैंभीऐसाबनूँ। औरजिससाधुकी

वैयावृत्यकीजातीहैउसकीसम्यक्त्वआदिगुणोंमेंविशेषप्रवृत्तिहोतीहै। इसकेसिवाय 2) श्रद्धा 3) वात्सल्य 4) भक्ति 5) पात्रकालाभ 6) संधान - अपनेमेंजोगुणपूजाछूटगयेहैंउनकापुनःआरोपण 7) तप 8) धर्मतीर्थकीपरम्पराकाविच्छेदनहोनातथासमाधियेगुणहै।

आणासंजमसारिवल्लदायदाणं य अविदिगिंछाय ।

वेजवच्चस्सु गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ 312

सर्वज्ञकेद्वाराउपदिष्टवैयावृत्यकरनेसेसर्वज्ञकीआज्ञाकापालनहोताहै। आज्ञापालनेसे 10) आज्ञासंयमहोताहै। वैयावृत्यकरनेवालेका 11) उपकारहोताहै। 12) निर्दोषरत्नत्रयकादानहोताहै। 13) संयममेंसहायताहोतीहै। 14) विचिकित्सा - ग्लानिदूरहोतीहै। 15) धर्मकीप्रभावणाहोतीहैऔर 16) कार्यकानिर्वाहहोताहै।

1) परोपकारसेगुणपरिणाम :-

मोहगिणादिमहदा घोरमज्जवेयणाए फुट्टन्तो ।

डज्जादि हु घगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥ 313

अतिमहानमोहरूपआगकेद्वारासुरअसुरऔरमनुष्ठोंसहितयहवर्तमानलोकधक्-धक्करतेहुएजलरहाहै। घोरमहावेदनासेउसकेअंगटूट-फूटरहेहैं।

विशेषार्थ - 'यहमेराहैऔरमैंइसकाहूँ' इत्यादिप्रत्ययरूपअज्ञानसमस्तवस्तुओंकेसम्बन्धमेंहोनेसेउसेअतिमहानकहाहै। तथालोकसेबहिरात्माप्राणियोंकासमूहलियागयाहै।

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवगगहेण विज्ञविदे ।

डाहुमुक्का हौंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥ 314

इसलोककेजलनेपरभीमुनियोंकोकोईवेदनानहींहै। क्योंकिज्ञानरूपीजलकेप्रवाहसे - आत्मा औरशरीरआदिकेभेदज्ञानरूपीजलकेप्रवाहसेमोहरूपीआगकेनष्टहोजानेसेतथारागद्वेषकेशांतहोजानेसेवेदाहसेमुक्तहै। आशययहहैकिसम्यज्ञानरूपीजलकेप्रवाहसेअज्ञानरूपीआगकेफैलावकोसमाप्तकरदेनाऔरवेदनारहितहोनाअर्थात्ज्ञाननन्दमयहोनायतियोंकागुणहै।

णिगगहिदिंदियदारा समाहिदा समिदसव्वचेदुंगा ।

धण्णा णिरावकखा तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥ 315

इंद्रियकेदोभेदहैं। द्रव्येंद्रियऔरभावेंद्रिय। पुद्गलस्कंधोंकेऔरउनकेआधारभूतआत्मप्रदेशोंकेइंद्रियाकाररचनाकोद्रव्येंद्रियकहतेहैंऔरज्ञानवरणकेक्षयोपशमओरइंद्रियसेहोनेवालेरूपादिविषयकउपयोगकोभावेंद्रियकहतेहैं। इनमेंसेयहाँउपयोगरूपइंद्रियकाग्रहणकियाहैं, क्योंकिउसकीसहायतासेमनकोप्रिय

और अप्रिय लगने वाले विषयों में रागद्वेष होते हैं। पापकर्म में निमित्त होने से यहाँ इंद्रियद्वारा कहा है अतः यह अर्थ होता है जिन्होंने इंद्रियों के विषयों में होने वाले रागद्वेष का निग्रह कर दिया है, जिनका चित्त रत्नत्रय में लीन रहता है, जो ईर्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप से करते हैं और जो 'णिरावक्खा' है। इसका अर्थ कोई 'निश्चल' कहते हैं और कोई निरपेक्ष कहते हैं अर्थात् जो सत्कार और लाभ की अपेक्षा नहीं करते वे पुण्यशाली मुनि तप से कर्म रूपी धूलि को नष्ट करते हैं। इस प्रकार इंद्रियों का निग्रह करना, रत्नत्रय में एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न करना, तप में लीन रहना और कर्म रूपी रज को दूर करना ये यतियों के गुण इस गाथा के द्वारा कहे हैं।

इय दद्धुण परिणामो वेजावच्चं करेदि साहुस्म ॥ 31
वेजावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥ 316

इस प्रकार ऊपर कहे यति के गुणों में जिसका परिणाम दृढ़ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यति में ये गुण है। यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्त में विचारता हैं वह उन गुणों में परिणत होता है और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणति होती है। अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणों से सुवासित होता है और जिसका वैयावृत्य किया जाता है वह यति अपने गुणों से च्युत नहीं होता। अतः अपने और दूसरों के उपकार के लिए वैयावृत्य कहा है।

2) परोपकार से श्रद्धा :-

जह जह गुणपरिणामो तह तह आस्त्रङ्ग धर्मगुणसेदिं ।
वहृदि जिणवरमग्ने णवणवसंवेगसहृवि ॥ 317

जैसे-जैसे गुण-परिणाम होता है वैसे-वैसे चारित्र रूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है, और जिनेन्द्र के मार्ग में नई-नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्द से गुणों को विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है - जैसे-जैसे यति के गुणों का स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है। जो यति के गुणों को भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता। उनके गुणों का स्मरण करने से उनमें रुचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणों के अनुरागी होते हैं। संसार से भय और श्रद्धा यति को रत्नत्रय में दृढ़ करती है। इस गाथा से श्रद्धा गुण का कथन किया।

3) परोपकार से वात्सल्य :-

सहाए वह्नियाए वच्छल्लं भावदो उपक्रमदि ।
तो तिव्वधर्मराओ सव्वजगसुहावहो होई ॥ 318
श्रद्धा के बढ़ने पर मुनि मन से वात्सल्य करते हैं। उससे धर्म में तीव्र राग होता है।

धर्म में तीव्र राग समस्त जगत में जो इंद्रिय जन्य और अर्तींद्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा धर्म में तीव्रराग रखने वाला यति सब सुखको प्राप्त होता है। इस गाथा से वात्सल्य का कथन किया।

4) परोपकार से भक्ति :-

अरहंत सिद्धभन्ति गुरुभन्ति सव्वसाहुभन्ति य ।

आसेविदा समग्ना विमला वरधमभन्ति य ॥ 319

इस भव से पूर्व तीसरे भव में दर्शन विशुद्धि आदि परिणाम विशेष से जिसने तीर्थङ्करत्व नामक अतिशयशाली कर्म का बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी हैं, जो कल्याण किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, धातिकर्मों के विनाश से जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्य को प्रकाशित करने में पृथु निरातिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्र मोह के क्षय से जिसने वीतरागता प्राप्त ही है, वीर्यान्तराय कर्म के प्रक्षय से जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसार का अन्त आ गया है उन भव्य जीवों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा से जो वृद्ध है, जो आठ महाप्रतिहार्य और चौतिस अतिशय विशेष से युक्त है, वे अर्हन्त हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामों से आये आठ कर्मों के बन्धन से जो छूट चुके हैं, जो अजर अमर अव्याबाध गुण से युक्त है अनुपम अनन्त सुख से शोभित है जिनके सदा प्रज्ज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार है और जिन्होंने परमात्मा अपस्था को पा लिया है वे सिद्ध हैं। इन अर्हन्तों और सिद्धों की भक्ति अर्हन्त-सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्द से यहाँ आचार्य और उपाध्याय का ग्रहण किया है। उनकी भक्ति गुरु भक्ति है और सर्वसाधुओं की भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रय में संपूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि का ऊपर कहा वैयावृत्य कहने से उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रय के धारकों का उपकार करने से उनका आदर की उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से अर्हन्त आदि में भक्ति व्यक्त होती है।

संवेगजणियकरणा णिस्मलामंदस्त्व णिक्कंपा ।

जस्स ददा जिणभक्ति तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ 320

संवेग जणिय करण में 'करण' शब्द क्रिया सामान्य का वाची होने पर भी यहाँ उसका अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया लिया है। अतः संसार के भय से जो उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व माया और निदान नामक शल्यों से रहित सुमेरु की तरह निश्चल, ऐसी दृढ़ जिन भक्ति जिसके हैं उसे संसार से भय नहीं है। कर्मों के एक देश को अथवा सब कर्मों को जितने से यहाँ 'जिन' शब्द से अर्हन्त आदि सभी लिए हैं। धर्म भी कर्मों को निरस्त करता है इसलिए जिन शब्द से धर्म भी कहा जाता है। किंतु वह धर्म द्रव्यलाभ के उद्देश्य से न

होकर जिन भक्ति संसार का भय दूर करने का उपाय है। यह जानकर होना चाहिए। वैनियिक मिथ्यादृष्टि की भक्ति सब में होती है; उसके निराकरण के लिए निःशल्य कहा है। मेरु की तरह निश्चल कहने से वह भक्ति सर्वकाल में होनी चाहिए ऐसा कहा है। सासादन सम्यग्दृष्टि के अल्पकालीन भक्ति होती है किंतु वह संसार से नहीं निकालती।

5) वैयावृत्य का एक गुण पात्रलाभ :-

पंचमहव्यगुरुतो णिग्महिदकसायवेदणो दंतो ।

लब्धदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणिधिभूदो ॥ 321

वैयावृत्य करने से, पाँच महाब्रतों के द्वारा कर्मों के आस्त्र को रोकने वाला, कषाय वेदना का निग्रह करने वाला (कषाय आत्मा को संतप्त करती हैं इसलिए इसे वेदना कहा है,) दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शांत हो गये हैं, वस्तु तत्त्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शांत होता है इससे दन्त कहा है, तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रूपों का निधि है नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैयावृत्य करने वाले को वैयावृत्य के लिए ऐसा सत्पात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

6) सेवा से संधान

दंसणणाणे तव संजमें य संधाणदा कदा होइ ।

तो तेण सिद्धिमग्ने ठविदो अप्पा परो चेव ॥ 322

किसी निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि में त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करने से सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यग्तप और सम्यग्चारित्र के पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैयावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथा के द्वारा 'संधान' पद का व्याख्यान किया है।

7) सेवा से तपगुण :-

वेजावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारुढो ।

पप्फोडितो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्म ॥ 323

वैयावृत्य करने वाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर उनेक भर्वों में कष्ट देने वाले कर्मों की निर्जरा करता हुआ विहार करता है।

8) सेवा से धर्म की अविच्छिन्न प्रभावना :-

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणाबदातीदवट्माणगदा ।

तिविहेण सुद्धमदिणा सब्वे अभिपूडया होंति ॥ 324

शुद्धचित्त से वैयावृत्य करने वाले के द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के

सब तीर्थकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-वचन-काय से पूजित होते हैं। तीर्थकरों की आज्ञा का पालन करने से सभी तीर्थकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं। तथा दस प्रकार के धर्मों में एक तपधर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अतः वैयावृत्य में आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करने से धर्म पूजित होता है।

आइरियधारणाए संघो सब्वो वि धारिओ होदि ।

संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कथा होइ ॥ 325

आचार्य का धारण करने से समस्त संघ धारित होता है। क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण करते हैं और जो साधु रत्नत्रय को धारण किए होते हैं उन्हें उसमें दृढ़ करते हैं। उत्पन्न हुए अतिचारों को दूर करते हैं। आचार्य के उपदेश क्रेप्रभाव से ही संघ गुणों के समूह को धारण करता है अतः आचार्य के बिना संघ का धारण संभव नहीं है। संघ के धारण से अभ्युदय और मोक्ष के सुख का साधन जो धर्म है उस धर्म तीर्थ का विच्छेद नहीं होता है। उपाध्याय आदि सभी समस्त कर्मों के विनाश की साधना करते हैं इसलिए साधु शब्द से उन सबका ग्रहण होता है।

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ।

साधु चेव ही संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ 326

जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् साधु वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

शंका - एक साधु की धारणा से सब साधु की धारणा कैसे हो सकती है ? क्योंकि समुदाय और व्यक्ति में भेद है ?

समाधान - साधु ही संघ है। साधुओं से भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है। समुदाय और उसके अवयव व्यक्ति में कथश्चित् अभेद होता है यह इन गाथाओं के द्वारा माना है।

9) सेवा से समाधि :-

गुणपरिणामादीहि अणुत्तरविहीहि वि हरमाणेण ।

जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥ 327

श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा, तीर्थ की अव्युच्छिति (अविनाश) इत्यादि गुणों का उत्कृष्ट क्रम के साथ आचरण करने वाले मुनि को जो सिद्धि सुख में एकाग्रता है, वह भी प्राप्त होती है; क्योंकि कार्य में समाधान हुए बिन कारण में आदर नहीं होता है। यदि खित्त में घट बनाने की भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण है उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुणपरिणाम आदि सिद्धि-सुख के उपाय है, सिद्धिसुख में एकाग्रता के बिना वे उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है।

10) सेवा से तीर्थङ्करों की आज्ञा पालन एवं उपकार :-

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होति ।

णिग्नहियाणि कसायिदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥ 328

जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थकरों की आज्ञा का पालन करता है। इस कथन से गाथा के 'आणा' पद का व्याख्यान किया है। 'संयमयोग का पालन होता है'- इस कथन से संयम पद का व्याख्यान किया है क्योंकि आचार्य आदि का संयम के साथ संबंध है। जो आचार्य आदि व्याधि आदि से पीडित होते हैं और बिना संकलेश के रोग परिषेष को सहने में असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करने से संयम की रक्षा होती है। अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तप के भेदों की रक्षा होती है। अपने भी और दूसरों के भी तप की रक्षा होती है। दूसरों से वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करने की अनुमोदना करके स्वास्थ्य को प्राप्तकर अपने तप की रक्षा करता है तथा दूसरों की आपत्ति को दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करने पर उनके संयम की रक्षा होती है। दूसरों की सहायता का कथन गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं। उसमें 'जम्हा' पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है - यतः वैयावृत्य करने वाला कषाय और इंद्रियों के दोष बतलाकर कषाय और इंद्रियों का निग्रह करता है, अतः वह दूसरों को सहायता प्रदान करता है।

परोपकार महानता का परिचायक :-

पत्थं हिदयणिङ्गुं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।

कदुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥ 359

'पत्थं हिदयणिङ्गुं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स' पत्थ। हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसतः। 'कदुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स' कटुकमौषधमिवापि तन्मधुरविपाकं भवति। तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं स्व प्रयोजनम्। किन्त्र वेत्ति स्वयं इति नोपेक्षितव्यम्। परोपकारः कार्य एवेति कथयति। तथाहि-तीर्थकृतः विनेयजनसंबोधनार्थं एव तीर्थविहारं कुर्वन्ति। महत्ता नामैवं यत्- परोपकारबद्धपरिकरता।

अपने गण के वासी साधु को हितकारी किंतु हृदय को अनिष्ट भी लगने वाले वचन बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कदुवी औषधी की तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते हैं। दूसरे को अनिष्ट वचन बोलने से हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वयं नहीं जानता; ऐसा मानकर उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। परोपकार करना ही चाहिए। जैसे तीर्थकर शिष्यजनों के संबोधन के लिए ही विहार करते हैं। महत्ता नाम इसी का है कि परोपकार करने में तत्पर रहना।

क्षुद्राः संति सहस्रशः स्वभरणव्यापारतात्रोद्यताः ।

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ॥

दुष्पुरोदरपूरणाय पिबति स्त्रोतःपति वाडवो ।

जीमूतस्तु निदाघसंभूतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ 359

अपने ही भरण-पोषण में लगे रहने वाले क्षुद्रजन तो हजोरों हैं किंतु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सजनों में अग्रणी विरल ही होता है। बड़वानल अपना कभी न भरनेवाला पेट भरने के लिए समुद्र का जल पीता है। किंतु मेघ ग्रीष्म से संतप्त जगत् के संताप को दूर करने के लिए समुद्र का जल पीता है।

परोपकारी कटु वचन भी श्रेय :-

पत्थं हिदयणिङ्गुं पि भण्णमाणं घेत्तव्यं ।

पेल्लेदूण वि छूदं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥ 360

हृदयस्यानिष्टमपि पथ्यं नरेण बुद्धिमत्ता ग्राह्यं हितं इति चेतो निधाय। 'पेल्लेदूण वि छूदं' अवष्ट्यापि प्रवेशितं धृतं बलानां हितं भवति यथा तद्विदिति यावत्।

हृदय को अनिष्ट भी वचन गुरु के द्वारा कहे जाने पर मनुष्य को पथ्य रूप से ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चों को जबरदस्ती मुँह खोलकर पिलाया गया धी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है।

परोपकारी महान् व्यक्ति दूसरों से श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्तो वि ।

जं संसिधस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वहृति ॥ 365

पासत्थसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं। चारित्तक्षुद्राच्छतसहस्त्रादपि एकोऽपि सुशीलो वरम्। यः संयममात्रितस्य शीलं, दर्शनं, ज्ञानं, चारित्रं च वद्धते, स भवदिभराश्रयणीय इति भावार्थः।

पार्श्वस्थ अर्थात् चारित्र में क्षुद्र यति लाख भी हो तो उनसे एक भी सुशील यति श्रेष्ठ है जो अपने संगी के शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बढ़ाता है। आपको उसी का आश्रय लेना चाहिए। गाथा में आगत पार्श्वस्थ शब्द जो चारित्र में क्षुद्र हैं उन सबके उपलक्षण के लिए हैं।

महान् व्यक्तियों का तिरस्कार मुख्यों के पुरस्कार से श्रेष्ठ :-

संजदणणावमाणं पि वरं खु दुज्जणकदादु पूजादो ।

सीलविणासं दुज्जणसंसग्नी कुण्दिणि दु इदरं ॥ 357

संयता: परिभवन्ति माम सुचरितं ततः पार्श्वस्थादीनेवाक्षयामि इति न चेतः कार्यमित्याचष्टे - संजदणणावमाणं पि वरं संयतजनापमानमपि वरं। 'दुज्जणकदादु पूजादो' दुर्जनकृतायाः पूजायाः। कथं? 'दुज्जणसंसग्नी सीलविणासं कुण्दिणि' दुर्जनसर्गः शीलविनाशं करोति। 'न दु इदरं' न तु इतरं। संयत जनावमानं तु नैव शीलविनाशं करोति।

संयमी जन मुझ चारित्रहीन का तिरस्कार करते हैं अतः मैं पाश्वस्थ आदि चारित्रहीन मुनियों के ही पास रहूँ। ऐसा मन में विचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि दुर्जन के द्वारा की गई पूजा से संयमीजनों के द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है। इसका कारण है कि दुर्जन का संसर्ग शील का नाशक है किंतु संयमीजनों द्वारा किया गया अपमान शील का नाशक नहीं है।

स्वाध्ययन (स्वाध्याय) तप :- अंगांग बाहिर आगम वयण-पुक्षछणाणु-पेहा-परियड्हाण-धम्म कहाओ सज्जायो नाम।

अंग और अंग बाह्य आगम की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना और धर्मकथा करना स्वाध्याय नाम का तप है।

स्वाध्याय केवल शुद्ध आगम अर्थात् द्रव्य श्रुत को पढ़ते रहना स्वाध्याय नहीं है, परंतु द्रव्य श्रुत के माध्यम से भावश्रुत द्वारा स्वात्म-द्रव्य का अध्ययन करना, जानना, शोध करना, प्राप्त करना ही यथार्थ स्वाध्याय है।

प्रज्ञातिशय, प्रशस्ताध्यवसायः, परमंतवमस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः।
(राजवार्तिक)

प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेद के लिए, तपवृद्धि, अतिचार शुद्धि के लिए (संशयोच्छेद व परवादियों की शंका का अभाव) आदि के लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है।

दब्ब सुयादो भावं भावदो होई सब्व सण्णाणं ।
संवेयण वित्ति केवलणाणं तदो भणियो ॥
गाहिओ सोसुदणाणे पच्छा संवेयणण कायव्वो ।
जो णहु सुदमबलंहाइ सो मुज्जाइ अप्प संब्भावो ॥ 34 नयचक्र
द्रव्यश्रुत से भावश्रुत होता है। भावश्रुते भेद विज्ञान होता है। उससे संवेदन, आत्मसंविति और केवलज्ञान होता है।

पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ग्रहण करके संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिए। जो श्रुतज्ञान का अवलंबन नहीं लेता है, वह आत्मस्वभाव में मूँह रहता है।

जिणवयण मोसदमिणं विसय सुहं विरेयणं अमिद भूयं ।

जर मरण वाहि हरणं खयकरणं सब्वदुक्खाणं । (दंसण पाहुड)

यह जिण वचन रूप औषधि इंद्रिय विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने वाला है तथा जन्म-मरण रूप रोग को दूर करने के लिए अमृत सदृश है और सर्व दुःखों के क्षय का कारण है।

शास्त्रं वदोडे शांति सैरने निर्गर्व नीति मेल्वातु मुक्ति स्त्रीचिंते ।
निजात्म चिंतने निल वेलक तंल्लदा शास्त्रदिं ॥

दुस्त्रीचिंतने दुर्मुखं कलहमुं गर्व मनंगोदडें ।

शांस्त्रं शस्त्र मे शास्त्रिकनला रत्नाकराधीस्वरा ॥ कन्नड काव्य

शास्त्र का ज्ञान प्राप्तकर शांति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना, मोक्ष चिंता तथा स्वात्म चिंता में निरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिंता, क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाता है और शास्त्रज्ञ भी शास्त्रधारी हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिए करना चाहिए।

सतत् अध्ययन शीलता से लाभ :-

णिउणं वित्तुलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ।

जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पट्टिद्वं ॥ 98 भ.आ.

निपुण, विपुल, शुद्ध, अर्थ से पूर्ण, सर्वोकृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्यकर्म, भावकर्म रूपी मल का नाशक जिनवचन दिन-रात पढ़ना चाहिए।

जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिए। किस प्रकार जिनवचन पढ़ना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं- जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थों का प्रमाण और नय के अनुसार निरूपण करने वाला हों पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषों से रहित होने से शुद्ध हो। विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्त, अनुयोगद्वारा और नय इन अनेक विकल्पों से जो जीवादि पदार्थों का विस्तार से निरूपण करता है। निकाचित अर्थात् अर्थ से भरपूर हो। अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो। दूसरों के वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है अतः उनसे जिनवचन उत्कृष्ट हैं क्योंकि जो गुण उनमें संभव नहीं है उन गुणों से युक्त है। सब प्राणियों का हितकारी है। दूसरों के मत तो किन्हीं की ही रक्षा सूचित करते हैं। ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमल का विनाश करने से जिनवचन पाप का हरने वाला है। उसे रात-दिन पढ़ना चाहिए इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है।

जिनवचन की शिक्षा में गुण :-

आदहिदपङ्णणा भावसंवरो णवयवो य संवेगो ।

णिकंपदा तवो भावणा य परदेसिगतं च ॥ 99

आत्महित का ज्ञान होता है। भाव संवर होता है। नवीन-नवीन संवेदन होता है रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है और दूसरों को उपदेश करने की क्षमता होती है।

जिनवचन के पढ़ने से आत्महित का परिज्ञान होता है- इंद्रिय सुख अहितकर है

उसे लोग हितकर ग्रहण करते हैं। इंद्रिय सुख दुःख का प्रतिकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है। पराधीन है, राग का सहचारी है, दुर्लभ है, भयकारी है, शरीर का आयासमात्र है, अपवित्र शरीर के स्पर्श से उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दुःखों के विनाश से उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मा में स्थितिरूप भाव स्थायी सुख है यह नहीं जानता। वह सुख जिनवचन के अभ्यास से प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणाम का संवर अर्थात् निरोध भाव संवर है।

ज्ञान से आत्महित परिज्ञान :-

णाणेण सब्बभावा जीवाजीवासवादिया तथिगा।

णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव॥ 100

ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव, आस्त्र आदि सब पदार्थ तथ्य भूत जाने जाते हैं। उसी प्रकार से इस लोक और परलोक में अहित और हित जाना जाता है।

‘आत्महित परिज्ञा’ इस पद में तो हित को ही सूचित किया है, जीवादि के परिज्ञान को तो सूचित नहीं किया हैं तब पहले कहे गये हित का कथन न करके जीवादि परिज्ञान का व्याख्यान क्यों किया है ?

आत्महित परिज्ञान का अर्थ आत्मा और हित का परिज्ञान लिया है। ‘आत्मा का हित’ अर्थ नहीं लिया है। अतः जीवादि का व्याख्यान करना युक्त है।

ऐसा अर्थ करने पर भी जीव का ही निर्देश किया है। तब अजीव आदि का उपन्यास क्यों किया ?

आत्म शब्द अजीवादि का उपलक्षणरूप होने से कोई दोष नहीं है। क्योंकि ‘जीवाजीवा’ इत्यादि सूत्र में जीव का प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगे के अजीवादि का उपलक्षण किया है। अथवा आत्मा का ज्ञान हुए बिना उसके हित को जानना कठिन है। आत्मा का परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अतः स्वस्थ्य का ठीक ज्ञान होने पर स्वास्थ्य का सम्बन्धज्ञान होता है। अतः आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है- अनंत पदार्थों में व्याप्त और अवग्रह आदि के क्रम से रहित निर्मल संपूर्णज्ञान जो पर की सहायता के बिना स्वयं होता है उसे एकांत से सुखरूप कहा है। इस कथन से यद्यपि अनंतज्ञान रूप सुख को हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवल ज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है। अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मों के विनाश-रूप होने से जानने योग्य है। कर्मों का ज्ञान अजीव को जाने बिना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल द्रव्यकर्मरूप होते हैं और उनका विनाश मोक्ष है। वह मोक्ष बंधपूर्वक होता है। क्योंकि बंध के अभाव में मोक्ष नहीं होता तथा बंध आस्त्र के बिना नहीं होता और मोक्ष के उपाय संवर और निर्जरा है।

यदि अद्वित मे दण्ड लेते हैं तो दम लोक में होने वाला दण्ड अनभ्रत मे मिन्द है।

उसमें जिनवचन की क्या आवश्यकता ? यदि अहित के कारण को अहित कहते हैं तो वह कर्म है और अजीव शब्द से उसका ग्रहण होता है। यदि परम्परा से दुःख का कारण होने से हिंसा आदि को अहित शब्द से लेते हैं तो भी अहित का पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आस्त्र में उनका अन्तर्भाव होता है।

इस जन्म में अनुभूत भी दुःखको अज्ञानी भूल जाते हैं इसी से वे सन्मार्ग में नहीं लगते। जिनवचन के द्वारा मनुष्य भव में होने वाली विपत्तियों को बतलाने से उनका स्मरण होता है। निन्दनीय कुल में जन्म होने पर वहाँ रोगरूपी साँप के डसने से उत्पन्न हुई आपत्तियाँ आती है। दरिद्रता, भाग्य हीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और परस्त्री की प्राप्ति न होने रूप अग्नि से चित्त का जलते रहना, धनिकों की निन्दनीय आज्ञा का पालन करने पर भी उनके गाली, गलौच, डॉट-फटकार, मारपीट, परवश मरण आदि को सहना पड़ता है।

जब हित का अर्थ हित का कारण लिया जाता है तो इस लोक में दान, तप आदि हित है। जैसे जंगली औषधी हित का कारण होने से हित कही जाती है क्योंकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वंदना करते हैं। कहा भी है- ‘दान से लोक में चिरस्थायी यश होता है। दान से वैर भी नष्ट हो जाते हैं। दान से पराये भी बंधु हो जाते हैं। अतः सुदान सदा देना चाहिए।’ तपोधनों को इंद्र, चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते हैं। परलोक में अहित से मतलब है आगामी नरकगती और तीर्यञ्चगति के भव में होने वाला दुःख और परलोक में हित से मतलब है मोक्षसुख। जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है।

आत्महित का ज्ञान न ढोने के दोष :-

आदहिदमयाणां तो मुज्जदि मूढो समादियदि कम्मं।

कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ 101

आत्मा के हित को न जानने वाला मोहित होता है। मोहित हुआ कर्म को ग्रहण करता है। और कर्म का निमित्त पाकर जीव अनंत भवसागर में भ्रमण करता है।

आत्महित या आत्मा और हित को न जानने वाला अहित को हित मानता है। यही मोह है। इस मोह में क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मोहि जीव कर्म को ग्रहण करता है। यहाँ पर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभ कर्म ग्रहण में क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म के कारण जीव भवसमुद्र में अनन्तकाल तक भ्रमण करता है।

आत्महित के ज्ञान का उपयोग :-

जाणांतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य।

होदिय तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्यं ॥ 102

आत्महित को जानने वाले के अहित से निवृति और हित में प्रवृत्ति होती है।

हिताहित के ज्ञान के पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है। इसलिए (आदहिदं) आत्महित को आगम से सीखना चाहिए।

आत्महित को जानने वाले की हित में प्रवृत्ति हो, किंतु अहित से निवृत्ति कैसे? जो अहित को जानता है वह अहित से निवृत्ति होता है। तथा हित और अहित भिन्न है। जो जिससे भिन्न होता है उसके जानने पर उससे भिन्न का ज्ञान नहीं होता। जैसे बंदर को जानने पर मगर का ज्ञान नहीं होता। और हित से अहित भिन्न है अतः हित को जानने वाला अहित को नहीं जानता। तब वह कैसे नियम से अहित से निवृत्ति होगा?

प्रत्येक वस्तु का जन्म स्व के भाव और पर के अभाव इन दोनों के आधीन है। जैसे घट बड़े पेट आदि आकार वाला होता है, पटादिरूप से उसका ग्रहण नहीं होता। यदि घट का पटरूप से ग्रहण हो तो विपरीत ज्ञान कहलायेगा। इसी तरह यहाँ भी जो हित से विलक्षण अहित को नहीं जानता वह उससे विलक्षण हित का ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः जो हित को जानता है वह अहित को भी जानता है।

शिक्षा अशुश्वाव के संवर में ढेतु :-

सज्जायं कुव्वंतो पंचिदियसुबुडो तिगुतो यं।

हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू॥ 103

विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पांचो इंद्रियों के विषयों से संवृत्त और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमन होता है।

वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। उसके अर्थ का कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रंथ के पढ़ाने को वाचना कहते हैं। संदेह को दूर करने के लिए अथवा निश्चित को दृढ़ करने के लिए सूत्र और अर्थ के विषय में पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थ का चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। कठस्थ करना आम्नाय है। कथा के चार प्रकार हैं- आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवदिनी और निर्वेदनी। उनके करने को धर्मोपदेश कहते हैं। उस स्वाध्याय को करने वाला पंचेन्द्रिय संवृत्त होता है।

* इंद्रिय के अनेक भेद हैं :- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय किंतु यहाँ इंद्रिय शब्द से रूपादि विषयक उपयोग कहा गया है। अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्याय को करने वाले का रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है।

* रूपादि विषयक उपयोग को रोकने का क्या फल है? रागादि की प्रवृत्ति नहीं होती। राग-द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोग का आश्रय पाकर होते हैं। जिस विषय को जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्व मात्र से राग-द्वेष को पैदा नहीं करता। क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य और है, उस मनुष्य में विषय के पास में होते हुए भी राग-द्वेष नहीं देखे जाते। कहा है- गति में जाने पर शरीर बनता है। शरीर से

इंद्रियाँ बनती हैं। इंद्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते हैं। जो विनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह पंचेन्द्रिय संवृत्त ओर तीन गुप्तियों से गुप्त होता है क्योंकि उनका मन अप्रशस्त रागादि के विकार से रहित होता है, झूँठ, रुक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशंसा, परनिंदा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीर के द्वारा हिंसा आदि में प्रवृत्त नहीं करता। तथा स्वाध्याय में लीन साधु एकाग्रमन होत है। अर्थात् ध्यान में भी प्रवृत्त करता है। जिसका श्रुत से परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान, शुक्लध्यान नहीं होते हैं। अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यान के भेद हैं। अपाय आदि के स्वरूप का ज्ञान जिनागम के बल से ही होता है। कहा भी है- आदि के दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववत् श्रुतकेवली के होते हैं।

नवीन संवेग के उत्पन्न होने का क्रम :-

जह जह सुदमोगाहदि अदिसयरसपसरसमसुदपुब्वं तं ।

तह तहपलहादिज्जदि नवनवसंवेगसह्याए॥ 104

जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुत को अवगाहन करता है - वैसे-वैसे नई-नई धर्मश्रद्धा से आह्लाद युक्त होता है।

जैसे-जैसे श्रुत का अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुत के अर्थ को जानता है। यह श्रुत 'अतिशयरस प्रहर' होना चाहिए। अन्य धर्ती में जो अर्थ नहीं पाया जाता उसे -अतिशय रस' कहा है। क्योंकि शब्द का रस उसका अर्थ है वही उसका सार है। जैसे आप्रफलादिका रस। प्रसर शब्द से अतिशयित अर्थ की बहुलता सूचित होती है। अतः 'अतिशयित रस प्रसर' का अर्थ है- अतिशय अभिधेय से भरा हुआ श्रुत।

भव्य और अभव्य जीवों के कानों में श्रुत सुनने में आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते हैं? यदि श्रुत के अर्थ का ज्ञान न होने से शब्दमात्र श्रुत का अश्रुत कहते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ के उपयोग का भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है?

अभिप्राय हय है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होने से श्रुत भी अश्रुत होता है। जैसे श्रुत को अवगाहन करता है वैसे-वैसे नई-नई धर्मश्रद्धा से युक्त होता है।

संसार से भीरुता को संवेग कहते हैं। तब आपका अर्थ धर्म ठीक नहीं है? इसमें कोई दोष नहीं है। संसार से भीरुता धर्म परिणाम का कारण है। जैसे शस्त्र के आघात के भय से कवच ग्रहण करते हैं इससे संवेग शब्द संवेग का कार्य जो धर्म है उसको कहता है।

निष्कम्पता

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमें ठिच्चा ।

विहरदि विसुज्जमाणो जावज्जीवं दु णिकंपो॥ 105

वृद्धि और हानि के क्रम को जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित

होकर शुद्धि को प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यंत विहार करता है वह निश्चल ही है।

प्रवचन के अभ्यास से जो यह जानता है कि ऐसा करने से रत्नत्रय की वृद्धि होती है और ऐसा करने से हानि होती है, वह श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त करता हुआ जीवन्त पर्यन्त विहार करता है अतः वह निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है।

निःशंकित आदि गुणों से सम्यग्दर्शन की वृद्धि होती है और शंका आदि से हानि होती है। अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धि से तथा स्वाध्याय में उपयोग लगाने से ज्ञान की वृद्धि होती है। उपयोग न लगाने से तथा नवीन अपूर्व अर्थ को ग्रहण न करने से ज्ञान की हानि होती है। कहा है- ‘पूर्व में ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमें उपयोग नहीं लगाता उसका ज्ञान घट जाता है।’ संयम की भावना से वह अपनी शक्ति को न छिपाकर ज्ञान में उपयोग लगाने से बाहर प्रकार के तप की वृद्धि होती रहती है। उससे विपरीत करने में और लौकिक कार्यों में फंसे रहने से तप की हानि होती है। पाप क्रियाओं के सम्यक् रीति से विरत होने को संयम कहे हैं। अशुभ मनोयोग, अशुभ वचनयोग और अशुभ काययोग पाप क्रिया है। अतः चारित्र संयम है। कहा भी है- ‘पाप क्रियाओं से निवृत्ति चारित्र है। उस संयम की वृद्धि पचीस भावनाओं से होती है और दन भावनाओं के अभाव से संयम की हानि होती है। शास्त्राभ्यास के बिना ज्ञान आदि के गुण अथवा दोष को नहीं जानता। जो गुणों को नहीं जानता वह कैसे गुणों को बता सकता है। और जो दोषों को नहीं जानता वह कैसे उन्हें छोड़ सकता है? अतः शिक्षा में आदर करना चाहिए।

स्वाध्याय परमतप :-

बारसविहमि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिङ्गे ।
ण वि अत्थि ण वि होहिदि सज्जायसमं तवो कम्मं ॥ 106

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तपक्रिया नहीं है और न होगी।

संसार और संसार के कारण बंध और बंध के कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओं में जो कुशल सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा उपदिष्ट तपों में स्वाध्याय के समान तप न हो, न होगा, न था, इस प्रकार तीनों कालों में स्वाध्याय के समान अन्य तप का अभाव कहा है।

स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है। दोनों में ही कर्म को तप ने की शक्ति समान है। फिर कैसे कहते हैं कि स्वाध्याय के सम्पन्न तप नहीं है?

कर्मों की निर्जरा में हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अनशनादि तप नहीं है इस अपेक्षा से उक्त कथन किया है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ 107

द्वृमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।

तत्तो बहुगुणदरिया होज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ 108

सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाखों-करोड़ों भवों में नष्ट करता है, उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहुर्त मात्र में क्षय करता है। अज्ञानी को दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानी को होती है।

इतनी शीघ्रता से कर्मों को काटने की शक्ति अन्य तप में नहीं है, यह स्वाध्याय का अतिशय है।

सज्जायभावणाए य भाविदा हॉंति सब्बगुत्तीओ ।

गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ हॉंदि ॥ 109

स्वाध्याय भावना से सब गुप्तियाँ भावित होती हैं और गुप्तियों की भावना से मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामों की आराधना में तत्पर होता है।

स्वाध्याय करने पर मनवचनकाय के सब ही व्यापार, जो कर्मों के लाने में कारण है चले जाते हैं। ऐसा होने से गुप्तियाँ भावित होती हैं और तीनों योग का निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रय में लगता है अतः रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है। इसका भाव यह है कि अनंतकाल से जिन तीन अशुभयोगों का इस जीव ने अभ्यास किया हुआ है और कर्म का उदय जिसका सहायक है उससे अलग होना अत्यंत कठिन है। स्वाध्याय की भावना ही इसे करने में समर्थ है।

स्वाध्यायशील : स्व-पर प्रकारशक :-

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती ।

होदि परदेसगते अब्बोच्छित्ती य तित्थस्स ॥ 110

अपने और दूसरों के उद्धार के उद्देश्य से जो स्वाध्याय में लगता है वह अपने भी कर्मों को काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरों के भी कर्मों को काटता है। सर्वज्ञ भगवान् की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिन शासन के प्रेमी को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिए, उसका भी पालन होता है। दूसरों को उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है। जिनवचन के अभ्यास से जिन वचन में भक्ति प्रदर्शित होती है। दूसरों को उपदेश करने पर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थ की अव्युच्छिती - परम्परा का अविनाश होता है। श्रुत भी रत्नत्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है। अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करने से श्रुत और मोक्षमार्ग का विच्छेद नहीं होता। वे सदा प्रवर्तित रहते

हैं। अन्यत्र भी कहा है-

सज्जाएण पसत्थं झाणं, जाणाइ य सव्वपइमत्थं ।

सज्जाए बट्टो, खणे खणे जाइ वेगं ॥ 338 (श्री उपदेशमाल)

“शास्त्र संबंधी, वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पंचविध स्वाध्याय करने वाला मुनिवर्य प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है तथा स्वाध्याय से वह सभी परमार्थ (तत्त्व या रहस्य) को अच्छी तरह जान लेता है। स्वाध्याय करने वाले मुनि को क्षण-क्षण वैराग्य प्राप्त होता रहता है। अर्थात् रागद्वेष रूपी विष दूर होने से निर्विष हो जाता है।

उहमहतिरियलोए जोईसवेमाणियां य सिद्धि य ।

सब्बो लोगालोगो सज्जायविउस्स पच्चक्खो ॥ 339

स्वाध्याय-वेत्ता मुनि के ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग् लोक इन तीनों लोकों का स्वरूप, चंद्रसूर्यादि ज्योतिष्क, वैमानिक देवों का निवास और सिद्धिस्थान, मोक्ष और सर्वलोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्षवत् हो जाता है। चौदह रज्जुप्रमाण लोक और इसके भिन्न अपरिमित अलोक का स्वरूप भी स्वाध्याय के बल से ही मुनि द्वारा जाना जाता है।

जो निच्चकालं तवसंजमुज्जाओ न वि करेइ सज्जायां ।

अलासं सुहसीलं जणं न पि तं ठविइ साहुपए ॥ 340

जो साधु निरंतर तप और पाँच आश्रव के निरोध रूप संयत में उद्यम करता रहता हो, लेकिन अध्ययन-अध्यापन रूपी स्वाध्याय नहीं करता या उससे विमुख रहता है, उस प्रमादी, सुखशील मुनि को लोग साधुमार्ग में साधुरूप में नहीं मानते। क्योंकि ‘ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः’ अर्थात् ज्ञान और क्रिया इन दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः दोनों की आरधना करनी चाहिए।

मनैकेन्द्रियकरण (ध्यान तप) :-

उत्तम संहननस्य एकाग्रचिता निरोधो ध्यानम् । एथ गाथा

जं थिरमज्ज्वसाणं तं झाणं जं चलतंयं चित्तं ।

तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चित्ता ॥ 2

उत्तम संहनन वाले का एकाग्रचित होकर चित्त का निरोध करना ध्यान नाम का तप है।

जो परिणामों की स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है और जो चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना है वह या तो भावना है या अनुप्रेक्षा है या चिंता है।

श्वेताम्बर जैन साहित्य में वर्णित तप

तप के द्वारा कर्मक्षय की पद्धति :-

जहा उ पावगं कम्मं राग-दोससमज्जियं ।

खवेइ तवसा भिक्ख तमेगगमणे सुण ॥ उत्त. सूत्र पृ. 526

जिस पद्धति से तप के द्वारा भिक्षु राग और द्वेष से अर्जित पापकर्म का क्षय करता है, उस पद्धति को तुम एकाग्रमन होकर सुनो।

पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्रहा विरओ ।

राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ॥

प्राणिवध, मृषावाद, अदत्त (आदान), मैथुन और परिग्रह से विरत तथा रात्रिभोजन से निवृत्त जीव अनाश्रव (आश्रवरहित) होता है।

पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ ।

अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ॥

पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय, (त्रिविधि) गौरव (गर्व) से रहित और निःशल्य जीव अनाश्रव होता।

एण्सि तु विवच्चासे राग-दोससमज्जियं ।

जहा खवयइ भिक्खू तं मे एगमणो सुण ॥

इनसे (पूर्वोक्त अनाश्रव साधना से) विपरीत (आचरण) करने पर रागद्वेष से उपार्जित किये हुए कर्मों का भिक्षु जिस प्रकार क्षय करता है, उसे एकाग्रचित हो कर सुनो।

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।

उस्सिंचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे ॥

जैसे किसी बडे तालाब का जल, नया जल आने के मार्ग को रोकने से, पहले के जल को उलीचने से और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है -

एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।

भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निजरिज्जई ॥

उसी प्रकार (नये) पापकर्मों के आश्रव (आगमन) को रोकने पर संयमी के करोड़ों भवों में संचित कर्म तपस्या से क्षीण (निर्जीण) हो जाते हैं।

विवेचन :- तप : निर्वचन और पूर्व कर्मक्षय - तप का निर्वचन दो प्रकार से किया गया है। 1) जो तपाता है, अर्थात् कर्मों को जलाता है, वह तप है। 2) जिससे रसादि धातु अथवा कर्म तपाए जाते हैं, अथवा कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। प्रस्तुत

दुसरी, तीसरी गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणिवधादि से विरत, पांचसमिति-त्रिगुप्ति से युक्त, चार कषाय, तीन शल्य एवं तीन प्रकार के गौरव से रहित होकर साधक जब अनाश्रव हो जाता है, अर्थात् नये कर्मों के आगमन को रोक देता है, तभी वह पूर्वसंचित (पहले बंधे हुए) पाप कर्मों को तप के द्वारा क्षीण करने में समर्थ होता है। यही तपोमार्ग है, पुरातन कर्मों को क्षय करने का। उदाहरणार्थ :- जैसे किसी महासरोवर का जल आने के मार्ग को रोकने, पहले के पानी को रेहंट आदि साधनों से उलीच कर बाहर निकालने तथा सूर्य के ताप से सूख जाता है, इसी प्रकार पाप कर्मों के आश्रव को पूर्वोक्त पद्धति से रोकने पर तथा ब्रत-प्रत्याख्यान आदि से पापकर्मों को निकाल देने एवं परिषहस्रन आदि के ताप से उन्हें सुखा देने पर संयमी के पुराने (करोड़ों भवों में) संचित पापकर्म भी तप द्वारा क्षीण हो जाते हैं।

तप के भेद-प्रभेद :-

सो तवो दुविहो वुज्जो बाहिरब्मन्तरो तहा ।
बाहिरो छविहो वुज्जो एवमब्मन्तरो तवो ॥

वह (पूर्वोक्त कर्मक्षयकारक) तप दो प्रकार का कहा गया है - बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छः प्रकार का हैं। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का हैं। विवेचन :- बाह्य तप : स्वरूप और प्रकार - जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रखता है, सर्वसाधारण जनता में जो तप नाम से प्रख्यात है, अथवा दूसरों को जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है, जो मोक्ष का बहिरंग कारण है, वह बाह्यतप कहलाता है।

बाह्यतप -प्रकार, अनशन के भेद-प्रभेद

अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्छाओ ।

कायकिलेसो संलीणया य बज्जो तवो होइ ॥

अनशन, ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और (प्रति) संलीनता यह (छह) बाह्य तप हैं।

इत्तिरिया मरणकाले दुविहा अणसणा भवे ।

इत्तिरिया सावकंखा निरवकंखा बिङ्जिया ॥

अनशन तप के दो प्रकार हैं- इत्वरिका और आमरणकालभावी। इत्वरिका (अनशन) सावकांक्ष (निर्धारित उपवासादि अनशन के बाद पुनः भोजन की आकांक्षा वाला) होता है। आमरणकालभावी निरवकांक्ष (भोजन की आकांक्षा से सर्वथा रहित) होता है।

जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छविहो ।
सेद्धितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥

तत्तो य वग्गवग्गो उ पंचमी छड्डओ पडण्णतवो ।

मणिच्छिय-चित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

इत्वरिक तप संक्षेप से छह प्रकार का है - 1) श्रेणितप 2) प्रतरतप 3) घनतप 4) वर्गतप 5) वर्ग वर्गतप और 6) प्रकीर्णतप। इस प्रकार मनोवांछित नाना प्रकार का फल देने वाला इत्वरिक अनशन तप जानना चाहिए।

जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया ।

सविचार - अविचार कायचिड्ड पई भवे ॥

कायचेष्टा के आधार पर आमरणकालभावी जो अनशन है, वह दो प्रकार का कहा गया है-सविचार (करवट बदलने आदि चेष्टाओं से युक्त) और अविचार (उक्त चेष्टाओं से रहित)।

अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया ।

नीहारिमणीहारी आहारच्छेओ य दोसु वि ॥

अथवा आमरणकालभावी अनशन के सपरिकर्म और अपरिकर्म, ये दो भेद हैं। अविचार अनशन के निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद भी होते हैं। दोनों में आहार का त्याग होता है।

2) अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप : स्वरूप और प्रकार :-

ओमोयरियं पंचहा समासेण वियाहियं ।

दव्वओ खेत्त-कालेण भावेण पज्जवेहि य ॥

संक्षेप में अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की अपेक्षा पाँच प्रकार का कहा गया है।

जो जस्स उ आहारो तत्तो ओमं तु जो करे ।

जहन्नेणगसित्थाई एवं दव्वेण ऊ भवे ॥

जिसका जो (परिपूर्ण) आहार है, उसमें जो जघन्य एक सिक्थ (अन्नकण) कम करता है (या एक ग्रास आदि के रूप में कम भोजन करता है), वह द्रव्य से ऊनोदरी तप है।

गामे नगरे तह रायहाणि निगमे य आगरे पल्ली ।

खेटे कब्बड - दोणमुहपट्टण - मडम्ब - संबाहे ॥

आसमपए विहारे सन्निवेसे समाय-घोसे य ।

थलि-सेणाखन्धारे सत्थे संवट्ट कोट्ट य ॥

वाडसु व रत्थासु व घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।

कपपइ उ एवमाई एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेड, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, संम्बाह-आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर

(छावनी), सार्थ, संवर्त और कोट, बाट (बाड़ा या पाड़ा), रस्ता (गली) और घर इन क्षेत्रों में अथवा इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों में (पूर्व) निर्धारित क्षेत्र-प्रमाण के अनुसार (भिक्षा के लिए जाना), इस प्रकार का कल्प, क्षेत्र से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप है।

पेडा या अद्वपेडा गोमुति पयंगवीहिया चेव ।

सम्बुक्कावट्टाऽयगन्तु पच्चागया छट्टा ॥

अथवा (प्रकारान्तर से) पेटा, अर्द्ध पेटा, गोमुत्रिका, पतंगवीधिका, शम्बूकावर्ता और आयतगत्वाप्रत्यागत यह छह प्रकार का क्षेत्र से ऊनोदरी तप है।

दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।

एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयब्बो ॥

दिन के चार पहरों (पौरुषियों) में भिक्षा का जितना नियत काल हो, उसी में (तदनुसार) भिक्षा के लिए जाना, (भिक्षाचर्या करने) वाले मुनि का काल से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप समझना चाहिए।

अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ धासमेसन्तो ।

चउभागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे ॥

अथवा तीसरी पौरुषी (प्रहर) में कुछ भाग न्यून अथवा चतुर्थ भाग आदि न्यून (प्रहर) में भिक्षा की एषणा करना, इस प्रकार काल की अपेक्षा से ऊनोदरी तप होता है।

इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि ।

अन्नयरवयत्थो वा अत्रयरेणं व वत्थेणं ॥

अन्नेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ ।

एवं चरमाणो खलु भावोमाणं मुणेयब्बो ॥

स्त्री अथवा पुरुष अलंकृत अथवा अनलंकृत; या अमुक आयु वाले अथवा अमुक वस्त्र वाले; अमुक विशिष्ट वर्ण एवं भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करँगा; अन्यथा नहीं, इस प्रकार के अभिग्रह पूर्वक (भिक्षा) चर्या करने वाले भिक्षु के भाव से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप होता है।

दब्बे खेते काले भावम्मि य आहिया उजे भावा ।

एएहि ओमचरओ पञ्जवचरओ भवे भिकखू ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय (भाव) कहे गए हैं, उन सब से भी अवमर्या (अवमौदर्य तप) करने वाला भिक्षु पर्यवचरक कहलाता है।

3) भिक्षाचर्यातप :-

अद्विङोयरगं तु तहा सत्तेव एसणा ।

अभिग्रहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया ॥

आठ प्रकार के गोचराग्र, सात प्रकार की एषणाएँ तथा अन्य अनेक प्रकार के अभिग्रह-भिक्षाचर्यातप है।

4) रसपरित्यागतप : एक अनुचितन

खीर-दहि-सपिमाई पणीयं पाणभोयणं ।

परिवज्जणं रसाणं तु अणियं रसविज्जणं ॥

दूध, दही, धी आदि प्रणीत (स्निग्ध एवं पौष्टिक) पान, भोजन तथा रसों का त्याग करना रसपरित्यागतप है।

5) कायवलेशतप :-

ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा ।

उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं ॥

आत्मा के लिए सुखावह वीरासन आदि उग्र आसनों का जो आभ्यास किया जाता है, उसे कायवलेश तप कहा गया है।

6) विविक्तशयनासन : प्रतिसंलीनतारूप तप :-

एग्नतमणवाए इत्थी पसुविवसज्जिए ।

सयणासणसेवण्या विविक्तसयणासणं ॥

एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) तथा स्त्री-पशु आदि से रहित शयन एवं आसन का सेवन करना, विविक्तशयनासन (प्रतिसंलीनता) तप है।

आध्यन्तर तप और उसके प्रकार :-

एसो बहिरंगतवो समासेण वियाहिओ ।

अब्धिन्तरं तवं एतो वृच्छामि आपुहिवसो ॥

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्जाओ ।

झाणं च वित्सग्गो एसो अब्धिन्तरो तवो ॥

यह बाह्य तप का संक्षिप्त में व्याख्यान किया गया है। अब अनुक्रम से आध्यन्तर तप का निरूपण करँगा। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग यह आध्यन्तर तप है।

1) प्रायश्चित्त : स्वरूप और प्रकार :-

आलोयणारिहाईय पायच्छित्तं तु दसविहं ।

जे भिक्खू वहड़ सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं ॥

आलोचनाई आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त तप है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से वहन (पालन) करता है, उसे प्रायश्चित्ततप कहा गया है।

2) विनय तप : स्वरूप और प्रकार :-

अभुद्धाणं अंजलिकरणं त हेवासणदायणं ।
गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥
खडा होना, हाथ जोडना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना तथा भावपूर्वक
शुश्रूषा करना विनयतप कहा गया है।

3) वैयावृत्य का स्वरूप :-

आयरियमाइयमि य वेयावच्चमि दसविहे ।
आसेवणं जहाभामं वेयावचं तमाहियं ॥
आचार्य आदि से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन
करने को वैयावृत्य तप कहा है।

4) स्वाध्याय तप : स्वरूप एवं प्रकार :-

वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्जाओ धंचहा भवे ॥
वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा यह पाँच प्रकार का
स्वाध्याय तप है।

5) ध्यानतप : लक्षण और प्रकार :-

अट्टुद्धाणि वज्जिता झाएज्जासा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइङ् झाणइङ् झाणं तं तु बुहा वए ॥
आर्त रौद्र ध्यान को त्याग कर जो सुसमाहित मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान
ध्याता है, ज्ञानी जन उसे ही ध्यान तप कहते हैं।

6) व्युत्सर्गतप : स्वरूप और विश्लेषण :-

स्वयणासण-ठाणे वा जे उ भिक्खु न वावरे ।
कायस्प विउसगो छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥
शयन में, आसन में और खडे होने में जो शरीर से हिलने - डुलने की चेष्टा नहीं
करता, यह शरीर का व्यूत्सर्ग, व्युत्सर्ग नामक छठा (आभ्यन्तर) तप कहा गया है।

द्वितीय तप का फल :-

एयं तवं दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तप का सम्यक् आचरण करता है,
वह शीघ्र ही समस्त संसार से विमुक्त हो जाता है।

आध्याय- 4

बौद्ध धर्म में वर्णित-तप

खन्ती परमं तपो तितिक्षा निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा ।
न ही पब्बजितो परूपधाती समणो होति परं विहेठ्यन्तो ॥ 6 धम्मपद
सहन-शीलता और क्षमा-शीलता परम तप है, बुद्ध लोग निर्वाण को परम (उत्तम)
बताते हैं। दूसरों का घात करने वाला और सताने वाला प्रवर्जित श्रमण नहीं होता।
अनूपवादो अनूपधातो पातिमोक्षे च संवरो ।
मत्तज्जुता च भत्तस्मिं पन्तश्च सव्यनासनं ।
अधिचित्ते च अयोगो एतं बुद्धानः सासनं ॥ 7
निंदा न करना, घात न करना, प्रातिमोक्ष में संयम रखना, भोजन में मात्रा जानना,
एकान्तवास, चित्त को योग में लगाना - यह बुद्धों की शिक्षा है।

तप का माहात्म्य :-

सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा ।
शान्त्या ही सर्वदुःखानां सहनं तप इत्यते ॥ 1 कुरलकाव्य
शांतिपूर्वक दुःख सहन करना जीव हिंसा न करना, बस इन्हीं में तपस्या का समस्त
सार है।

तपो नूनं महत्तेजस्तेजस्विन्येव शोभते ।
निरस्तेजसि तपः किंतु निष्कलं जायते सदा ॥ 2
तपस्या तेजस्वी लोगों के लिए ही है, दूसरे लोगों का तप करना निरर्थक है।
ऋषीणां परिचर्यार्थं केचिदावश्यका जनाः ।
इतीव न तपस्यन्ति किमन्ये धर्मवत्सलाः ॥ 3
तपस्वियों को आहारदान तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिए भी कुछ लोग आवश्यक
हैं क्या इसी विचार से इन्हें लोगों ने तप करना स्थगित कर रखा है।

रिपूणां निग्रहं कर्तुं सुहृदाश्चाप्यनुग्रहम् ।
यदीच्छा तहिं तप्यस्व तपस्तद्व्यसाधनम् ॥ 4
यदि तुम अपने शत्रुओं का नाश करना और लोगों को उन्नत बनाना चाहते हो जो
तुम्हें प्रेम करता है, तो जान रखो कि यह शक्ति तप में है।
सर्वेषामेव कामानां सुमिद्धौ साधनं तपः ।
अतएव तपस्यार्थं यतने सर्वमानवाः ॥ 5
तप समस्त कामनाओं को यथेष्ट रूप से पूर्ण कर देता है, इसलिए लोग जगत् में
तपस्या के लिए उद्योग करते हैं।

ये कुर्वन्ति तपो भक्तया श्रेयः कुर्वन्ति तेऽज्जसा ।
 अन्ये तु लालसाबद्धा आत्मनो हानिकारकाः ॥ 6
 जो लोग तपस्या करते हैं वे ही वास्तव में अपना भला करते हैं और सब तो
 लालसा के जाल में फँसे हुए हैं जो कि अपने को केवल हानि ही पहुँचाते हैं।
 यथा भवति तीक्षणाग्रिस्तथैणोज्जलकाञ्चनम् ।
 तपस्येवं यथाकष्टं मनः शुद्धिस्तथैव हि ॥ 7
 सोने को जिस आग में पिघलाते हैं वह जितनी ही अधिक तेज होती है सोने का रंग
 उतना ही अधिक उज्ज्वल निकलता है। ठीक इसी तरह तपस्वी जितने ही बडे कष्टों को
 सहता है उसके उतने ही अधिक आत्मिक भाव निर्मल होते हैं।
 प्रभुत्वं वर्तते यस्य स्वस्यात्मन्येव वस्तुनि ।
 सम्पूर्जन्ति तं सर्वे निष्कामं पुरुषोत्तमम् ॥ 8
 देखो जिसने अपने पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है उस पुरुषोत्तम को सभी लोग पूजते
 हैं।
 शक्तिसिद्धिउभेयस्य संप्राप्ते तपसोबलात् ।
 मृत्युरपि जये तस्य साफल्यं दृश्यते स्फुटम् ॥ 9
 देखो जिन लोगों ने तप करके शक्ति और सिद्धि प्राप्त कर ली है, वे मृत्यु को जीतने
 में भी सफल हो सकते हैं।
 अतृपाः सन्त्यसंख्याता अभिलाषावशंवदाः ।
 अधिका हि तपोहीना विरलाश्च तपस्विनः ॥ 10
 यदि जगत् में दीनों की संख्या अधिक है तो इसका कारण यही है कि वे लोग जो
 तप करते हैं वे थोड़े हैं और जो तप नहीं करते हैं उनकी संख्या अधिक हैं।

कामना का दमन :-

एकस्यामि पदार्थस्थ कामना बीजसंततिः ।
 प्रतिजन्तु यतो जन्मनिष्पत्तिः फलशालिता ॥ 1 कु. काव्य 37
 कामना एक बीज है जो प्रत्येक आत्मा को सर्वदा ही अनवरत कभी न चुकने
 वाली जन्म-मरण की फसल प्रदान करता है।
 कामनां कर्तुमिच्छा चेत् तहि मुक्तौ विधियताम् ।
 सोऽधिकारी परं तत्र येनेवं कामना जिता ॥ 2
 यदि तुम्हें किसी बात की कामना करनी ही है, तो पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाने
 की कामना करो और वह छुटकारा तभी मिलेगा जब तुम कामना को जीतने की इच्छा
 करोंगे।

निर्दोषं हि महद्वस्तु निष्कामित्वं महीतले ।
 स्वर्गेऽपि नास्ति ततुल्यो द्वितीयः कोषसंग्रहः ॥ 3
 निष्कामवृत्ती से बढ़कर इस जगत् में दूसरी और कोई संपत्ति नहीं है और तुम स्वर्ग
 में भी जाओ तो तुम्हें ऐसी अमूल्य निधि न मिलेगी जो इसकी तुलना करें।
 कामनायाः परित्यागान्नन्या काचित् पवित्रता ।
 तत्त्वागस्तु परब्रह्मपदप्राप्त्यभिलाषाया ॥ 4
 कामना से मुक्त होने के सिवाय पवित्रता और कुछ नहीं है और यह मुक्ति पूर्ण सत्य
 (शुद्धआत्मा) की इच्छा करने से ही मिलती है।
 मुक्तास्तु एव सन्तीह निर्जिता यैस्तु कामना ।
 अन्ये च बन्धनैर्बद्धाः स्वतन्त्रा इव भान्ति ते ॥ 5
 वही लोग मुक्त हैं जिन्होंने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है बाकी लोग देखने में
 स्वन्त्र मालुम पड़ते हैं वास्तव में वे कर्म बंधन से जकड़े हुए हैं।
 हातव्या कामना दूरात् स्वकल्याणं यदीच्छासि ।
 तृष्णाजालस्वरूपेयमन्ते नैराश्यकारिणी ॥ 6
 यदि तुम भ्रद्रता को चाहते हो तो कामना से दूर रहो, क्योंकि कामना एक जाल
 और निराशा मात्र है।
 विषयाशाः परत्यक्ताः सर्वथा येन धीमता ।
 मुक्तियराति तत्पाश्चें निर्दिष्टेनैव वर्त्मना ॥ 7
 यदि कोई मनुष्य अपनी समस्त वासनाओं को सर्वथा त्याग दे तो जिस मार्ग से
 आने की वह आज्ञा देता है मुक्ति उसी मार्ग से आकर उससे मिलती है।
 यो न कामयते किञ्चिद् दुःखान्यापि न तत्कृते ।
 बम्भ्रमीति य आशावान् दुःखानां तस्य राशयः ॥ 8
 जो किसी बात की लालसा नहीं रखता उसको कोई दुःख नहीं होता पर जो
 वस्तुओं के लिए मारा-मारा फिरता है उस पर विपत्तियों के ऊपर विपत्तियाँ आती है।
 स्थिरं सुखं मनुष्येण प्राप्नुमत्रापि शक्यते ।
 दुःखानुबन्धिनी तृष्णा विद्वस्ता चेत् स्वशक्तिः ॥ 9
 यहाँ भी मनुष्य को स्थिर सुख प्राप्त हो सकता है यदि वह अपनी इच्छा का ध्वंस
 कर डाले क्योंकि इच्छा ही सबसे बड़ी विपत्ति है।
 इच्छाभिस्तु नरः कोऽपि संतुमो नैव भूतले ।
 पूर्णतृप्तः स एवस्ति येनाशात्याग आदृतः ॥ 10
 इच्छा कभी तृप्त नहीं होती, किंतु यदि कोई मनुष्य उसको त्याग दे तो वह उसी
 क्षण पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

तप से भिक्षुक हुआ चंद्रगुप्त

अभवदमरलोके दीक्षितो वल्मनाया नशनजनितपुण्यादेवकान्तामनोऽः ।
विगतसुकृतवैश्यो नंदिमित्राभिधान उपवासनमतोऽहं तत्करोमि त्रिशुद्धया ॥ 5

नंदिमित्र नाम का जो पुण्यहीन वैश्य भोजन के लिए दीक्षित हुआ था वह उपवास से प्राप्त हुए पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में देवांगनाओं का प्रिय (देव) हुआ इसलिए मैं मन, वचन और काय की शुद्धि पूर्वक उपवास को करता हूँ ।

इसी आर्यघंड के भीतर अवंती देश में वैदिशा (विदीशा) नगर में राजा जयवर्मा राज्य करता था । रानी का नाम धारिणी था । इसी नगर के पास में एक पलाशकूट नाम का गांव है । वहाँ एक देवील नाम का वैश्य रहता था । उसकी पत्नी का नाम पृथ्वी था । इनके एक नंदिमित्र नाम का पुत्र था जो पुण्यहीन था । वह मात्रा में बहुत अधिक भोजन किया करता था । इसलिए माता-पिता ने उसे घर से निकाल दिया था । तब वह वैदिशपुर गया । वहाँ जाकर वह नगर के बाहर एक वटवृक्ष के नीचे बैठ गया । उसके पहुँचने के पूर्व में वहाँ एक काष्ठकूट नाम का लकड़हारा लकड़ीयों के बोझ को उतार कर विश्राम कर रहा था । उसको देख कर नंदिमित्र बोला कि यदि तुम मुझे प्रतिदिन भोजन दिया करोगे तो मैं इससे चौगुणी लकड़ीयों का बोझ लाया करूँगा । काष्ठकूट ने इस बात को स्वीकार कर लिया, तदनुसार वह उस लकड़ीयों के बोझ को नंदिमित्र के सिर पर रखकर घरको गया । उसने अपनी स्त्री जयघंटा को सीख दी की तुम इसको कभी भी भरपेट भोजन नहीं देना । तदनुसार उसकी स्त्री उसे थोड़ा भोजन देने लगी । इसप्रकार काष्ठकूट भारी लकड़ीयों के गढ़ों को मंगाने और उन लकड़ीयों को बेच कर धन संचय करने लगा । अब वह स्वयं लकड़ीयों को न लाकर उसी से मंगवाया करता था । एक बार त्यौहार के समय जयघंटा ने सोचा इसके प्रसाद से मुझे संपत्ति प्राप्त हुई है, परंतु मैंने इसे कभी भी पूर्ण भोजन नहीं दिया । आज इसे इच्छानुसार भोजन कराना चाहिए । यह सोचकर उसने उस दिन नंदिमित्र के लिए उसकी इच्छानुसार खीर, धी और शकर आदि देकर अंत में पान भी दिया, तब उसने संतुष्ट होकर काष्ठकूट से वस्त्र आदि माँगे । उस समय काष्ठकूट ने अपनी स्त्री से पूछा आज इसे तूने खाने के लिए क्या दिया है । इसके उत्तर में उसने यथार्थ बात कह दी । इससे क्रोधित होकर काष्ठकूट ने यह कहते हुए कि तूने उसे ऐसा उत्तम भोजन क्यों दिया है, उसे ढण्डों से खूब मारा । यह देखकर नंदिमित्र ने विचार किया कि काष्ठकूट ने इसे मेरे कारण मारा है, अब इसके घर में रहना योग्य नहीं है । बस यही सोचकर वह उसके घर से निकल गया । फिर वह एक लकड़ीयों के भारी गढ़ को लाया और उसे बेचने के लिए बैठ गया । ग्राहक जन छोटे ही गढ़ों को खरीदकर चले जाते थे, परंतु इसके गढ़ के विषय में कोई बात भी नहीं करता था । इस तरह दोपहर हो गयी । तब वह भूख से व्याकुल हो उठा । इतने में वहाँ से विनयगुप्त नाम के एक मासोपवासी मुनि चर्या के लिए

निकले । उन्हें देखकर उसने विचार किया कि मेरे पास तो पहिनने के लिए फटा पुराना वस्त्र भी है परंतु इसके पास तो वह भी नहीं हैं । देखूँ भला यह किधर जाता है । यह सोचता हुआ वह लकड़ीयों के गढ़े को वहाँ पर छोड़कर उनके पीछे लग गया । उन मुनिराज का पड़गाहन राजा ने करके उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया । नंदिमित्र को देखकर उसने समझा कि यह कोई श्रावक है । इसलिए उसने दासी के द्वारा उसके पाँव धुलवाकर उसे भी दिव्य भोजन दिया । मुनि का निरन्तराय आहार हो जाने पर राजा के यहाँ पश्चाश्चर्य हुए । उनको देखकर नंदिमित्र ने समझा कि यह कोई देव है । इसके साथ रहने से मैं भी इसके समान हो जाऊँगा । यही सोचता हुआ वह उनके साथ गुफा में चला गया । वहाँ पहुँचकर उसने उनसे प्रार्थना की कि हे स्वामिन् ! मुझे भी आप अपने समान बना लिजिए । तब भव्य और अल्पायु जानकर विनयगुप्त मुनि ने उसे दीक्षा दे दी । उस दिन नंदिमित्र उपवास ग्रहण करके पश्च नमस्कार मंत्र का पाठ करता रहा । पारणा के दिन ‘मैं उन्हें आहार दूँगा, मैं उन्हें आहार दूँगा’ इस प्रकार श्रावकों के बीच में विवाद आरंभ हो गया । उसे देखकर नंदिमित्र के परिणाम कापोतलेश्या जैसे हुए । कल इसके आश्रय से श्रावकों में कैसा क्षोभ होता है, यह देखने के लिए उसने दूसरा उपवास ग्रहण कर लिया । तीसरे दिन पारणा के निमित्त से राज सेठ आदि ने जाकर उसकी बंदना करते हुए कहा कि “मैं पड़गाहन करूँगा, मैं पड़गाहन करूँगा ।” इस पर वह नंदिमित्र बोला - “मैंने आज भी उपवास किया है ।” तब सेठ आदि ने कहा कि ऐसा न कीजिए । इसके उत्तर में उसने कहा कि मैं तो वैसा कर ही चुका हूँ । तत्पश्चात् सेठ ने राजदरबार में नवीन तपस्वी के गुणों का वर्णन किया । उसे सुनकर रानी ने विचार किया कि प्रातःकाल मैं उनको आहार दूँगी । इसी विचार से वह तीन के उपवास के पश्चात् पारणा के समय समस्त अन्तःपुर के साथ वहाँ गई । उसने गुरु और शिष्य दोनों की बंदना की । उस समय नंदिमित्र ने मन में विचार किया कि आज भी मैं उपवास करने में समर्थ हूँ, जब राजा आवेगा तब मैं पारणा करूँगा; यही सोचकर उसने कहा कि आज भी मेरा उपवास है । तब रानी ने उसके पाँव में गिरकर कहा कि अब उपवास न कीजिए । इस पर उसने उत्तर दिया कि ग्रहण किए हुए उपवास को मैं कैसे छोड़ दूँ । गुरुने भी कहा कि ग्रहण किए हुए उपवास को छोड़ना योग्य नहीं है । तब रानी वापिस चली गई । उधर वह नंदिमित्र पंचनमस्कार मंत्र के पदों का चिंतन करता हुआ स्थित रहा । तत्पश्चात् रात्रि के अंतिम पहर में गुरु ने कहा - हे नंदिमित्र ! अब तेरी अंतर्मुहूर्त मात्र आयु शेष रही है, इसलिए तू संन्यास को ग्रहण कर ले । तब उसने प्रसाद मानकर गुरु के कहे अनुसार विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर लिया । इस प्रकार वह संन्यास के साथ शरीर को छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ । इधर राजा आदि नंदिमित्र मुनि के स्वर्गवास को जानकर वहाँ स्वर्णादि की वर्षा द्वारा क्षपक की प्रभावना कर रहे थे और उधर इसी समय उस देव ने अपने परिवार के साथ वहाँ पहुँचकर विमानों से आकाश को व्याप्त कर

दिया। स्वयं समस्त देवियों के साथ विमान में स्थित था। तब वह नंदिमित्र के गृहस्थ अवस्था के वेष में क्षपक के आगे नृत्य करता हुआ वह बोल रहा था- पिच्छह पिच्छह ओदनमुङ्डं अच्छरमज्जगयं रमणिज्जं।

जेण व तेण व कारणएणं पञ्चदद्वं होऽनरेणं ॥

देखो-देखो ! जो नंदिमित्र केवल भोजन के निमित्त से दीक्षित हुआ था वह अब रमणीय देव होकर अप्सराओं के मध्य में स्थित है। इसलिए मनुष्य को जिस किसी भी कारण से हो, संन्यास लेना ही चाहिए। नंदिमित्र का जीव जो देव हुआ था वह स्वर्ग से च्यूत होकर सम्प्रति चंद्रगुम्फ हुए। (पुण्यास्वकथाकोषं)

तप से मांसभक्षी हुआ देव

इह ललितघटाख्या मांस सेवादियुक्ता मृति समय गृहीता च्छोपवासाद्विशुद्धात् ।
अगमदमलसौख्यां चास्वर्वार्थसिद्धिम् उपवसनमतोऽहं तत्करोमि त्रिशुद्ध्या ॥ 1 ॥

ललित घट इस नाम से प्रसिद्ध जो श्रीवर्धन आदि कुमार यहाँ मांस भक्षण आदि व्यसनों में आसक्त थे वे सब मरण के समय में ग्रहण किए गये निर्मल उपवास के प्रभाव से उत्तम सुख के स्थान-भूत सुंदर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त हुए हैं। इसलिए मैं मन, वचन व काय से शुद्धिपूर्वक उस उपवास को करता हूँ।

इसी वत्स देश के भीतर कौशाम्बी पुरी में एक हरिध्वज नाम का राजा राज्य करता था। रानी का नाम वारुणी था। उनके श्रीवर्धन आदि बत्तीस पुत्र थे। ये बत्तीस राजपुत्र तथा पांचसौ मंत्रीपुत्र इनमें परस्पर मित्रता थी। वे सब एक ही स्थान में जाते-आते व ठहरते थे। चूँकि वे सब ही सुंदर थे, इसलिए मनुष्य उन सबको 'ललितघट' नाम से संबोधित करने लगे थे। वे सब एक दिन शिकार के विचार से श्रीकांत पर्वत पर गए। वहाँ जाकर उन सबने जब मृगों के ऊपर बाण छोड़े तब उनके धनुष चुर्ण-चुर्ण हो गए और वे सब गिर गए। तत्पश्चात् वे उठकर इस आशर्यजनक घटना की खोज करने लगे। उस समय उन्हें एक अभयघोष नाम के मुनि दिखाई दिये। उनमें से कितनों के मन में विचार आया कि यह कृत्य इसी ने किया है। इससे वे क्रोधित होकर मुनि का अनिष्ट करने के लिए उद्यत हो गए। परंतु श्रीवर्द्धन ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। तब उन सब मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने सबको धर्मवृद्धि कहकर आशीर्वाद दिया। इसके बाद श्रीवर्धन कुमार ने उनसे अपनी आयु का प्रमाण पूछा। मुनि ने कहा कि तुम सबकी आयु अब एक मास प्रमाण ही रह गयी है। यदि तुम इस बात का निश्चय करना चाहते हो तो इन घटनाओं को देखकर कर सकते हो- जब तुम सब अपने नगर को वापिस जाओगे तब तुम्हें बीच में अनेक फणों से युक्त एक भयानक सर्प तुम्हारे मार्ग को रोककर स्थित मिलेगा परंतु वह आप लोगों की भर्त्सना से दृष्टि से ओझल हो जावेगा। उसके आगे तुम सब मार्ग में बैठे हुए एक मनुष्य बालक को देखोगे। वह तुम लोगों को देखकर

वृद्धिगत होता हुआ भयानक राक्षस के रूप में तुम सबको निगलने के लिए आवेगा। परंतु वह भी तुम्हारी भर्त्सना से दृष्टि से ओझल हो जावेगा। तत्पश्चात् नगर के भीतर प्रवेश करके जब तुम राजमार्ग से अपने भवन को जाओगे तब कोई अंधी स्त्री महल के उपरिम भाग से बालक के मल को पृथ्वी पर फेंकेगी और वह श्रीवर्धन कुमार के सिर पर पड़ेगा तथा अगली रात को आप लोगों की माताएँ यह स्वप्न देखेंगी कि आप लोगों को राक्षस ने खा लिया है। बस इन सब घटनाओं को देखकर मेरे वचन को तुम सत्य समझ लेना। इस प्रकार मुनि के कथन को सुनकर वे आशर्यन्वित होते हुए नगर की ओर गए। मार्ग में जाते हुए उन सबने जैसा कि मुनि ने कहा था उन सब घटनाओं को देख लिया। इससे विरक्त होकर उन सबने अपने-अपने माता-पिता की स्वीकृति लेकर उन मुनि के निकट में दीक्षा धारण कर ली। तत्पश्चात् वे संन्यास को ग्रहण करके प्रायोपगमन (स्व-पत्रैयैवृत्ति का त्याग) के साथ यमुना नदी के तट पर स्थित हुए। ठीक एक माह के अंत में वे असमय में हुई वर्षा के कारण वृद्धि को प्राप्त हुए यमुना के प्रवाह में बह गए। इस प्रकार समाधि के साथ मरण को प्राप्त करके वे सब सर्वार्थसिद्धि विमान में देव हुए। इस प्रकार वे माँस भक्षणादि से आसक्त होकर भी अंत में ग्रहण किए उपवास के प्रभाव से जब वैसी समृद्धि को प्राप्त हुए हैं तब दूसरा जो जिन भक्त जीव अपनी शक्ति के अनुसार विशुद्धिपूर्वक उपवास को करता है वह क्या वैसी समृद्धि को नहीं प्राप्त होगा ? अवश्य होगा।

तप से चांडाल हुआ देव

श्वपचकुलभवो ना भूरिदुःखी च कुष्ठी अभवदमरदेही दिव्यकांतामनोजः ।
अनशनसुविधायी स्वस्थ देहावसाने उपवसनमतोऽहं तत्करोमि त्रिशुद्ध्या ॥ 8 ॥

जो मनुष्य चांडाल के कुल में उत्पन्न होकर अतिशय दुःखी और कोढ़ी था वह उपवास को करके उसके प्रभाव से अपने शरीर को छोड़ता हुआ देव पर्याय को प्राप्त हुआ। तब वह देवांगनाओं के लिए कामदेव के समान सुंदर प्रतीत होता था। इसलिए मैं मन-वचन और काय से शुद्धिपूर्वक उस उपवास को करता हूँ।

जंबुद्वीप के भीतर पूर्व विदेह में एक पुष्कलावती नामक देश व उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है। वहाँ राजा श्रीपाल और वासुपाल राज्य करते थे। एक समय उस नगर के बाहर शिवकं उद्यान में भीम नामक केवली का समवशरण स्थित हुआ। वहाँ स्वपरवती (सुखावती) सुभगा, रतिसेना और सुसीमा नाम की चार व्यन्तर देवियाँ आईं। उन्होंने केवली से पूछा कि हमारा पति कौन होगा ? केवली ने कहा कि इसी नगर में पहले चण्ड नाम का एक चांडाल उत्पन्न हुआ था। उसे वासुपाल राजा ने विद्युद्वेग चोर के साथ लाख के घर में रखकर मार डाला था। उसके एक अर्जुन नाम का पुत्र था। उसके शरीर में उदुम्बर कुष्ठरोग हो गया था। इससे कुटुम्बीजनों ने उसे घर से निकलकर इस समय मूलगिरि

पर्वत के ऊपर कृष्ण गुफा में संन्यास के साथ स्थित है। वह पाचवें दिन शरीर छोड़कर तुम्हारा पति होगा। इसको सुनकर वे चारों व्यन्तर देवियाँ उस मूलगिरि पर्वत पर गयी और उससे बोली कि हे अर्जुन ! तुम फँचके दिन शरीर दो छोड़कर हम लोगों के पति होओगे, यह हमें भीम केवली ने बताया है। इसलिए तुम परीषह से पीडित हाकर के भी संक्लेश न करना। इस प्रकार से उसे संबोधित करती हुई वे चारों उसी के पास स्थित हो गयी। उस समय कुबेरपाल नाम का राजपुत्र वहाँ क्रीड़ा के लिए आया। उनको देखकर उसने क्रोध के आवेश में कहा कि यह चाण्डाल कोढ़ी है इसलिए इस निकृष्ट को छोड़कर तुम मुझसे अनुराग करो। उसने उत्तर दिया कि हम देवियाँ हैं और तुम हो मनुष्य, इसलिए तुम यह असम्बद्ध बात क्यों बोलते हो ? यदि तुम भोगों की अभिलाषा रखते हो तो धर्म में निरत हो जाओ। इससे हम लोगों की बात ही क्या, तुम्हें सौधर्मादि स्वर्गों में हमसे भी विशिष्ट देवियाँ प्राप्त हो सकेगी। तब वह वहाँ से चला गया। तत्पश्चात् वहाँ नागदत्त सेठ का पुत्र भवदत्त आया। उसने भी उनको देखकर वैसा ही कहा। तब उन सबने उसे भी वही उत्तर दिया जो कि कुबेरपाल के लिए दिया था। तत्पश्चात् वह कामज्ज्वर से मरकर अपने पिता के द्वारा बनवाये गये नागभवन में उत्पल नाम का व्यन्तर हुआ। वह अर्जुन उन बहुत सी देवियों का सुरदेव नाम का देव उत्पन्न हुआ। वह परिवार के साथ भीम केवली की वंदना के लिए आया। उसको देखकर और उससे वृत्तान्त को जानकर भीमकेवली की समवशरण सभा में स्थित कितने ही जीव प्रोष्ठ द्वारा में निरत हो गए। इस प्रकार अनेक प्राणियों की हिंसा करने वाला वह चाण्डाल उपवास के प्रभाव में जब देव उत्पन्न हुआ है तब अन्य भव्यजीव क्या उसके फल से समृद्धि को प्राप्त नहीं होगा, अवश्य होगा।

संयम

इन्द्रियाणां निरोधेन लभ्यते त्रिदशालयः ।

घटापथस्तु विज्ञेयो रौरवार्थमसंयमः ॥ 1 कुरल काव्य 13

आत्मसंयम से स्वर्ग प्राप्त होता है, किंतु असंयत इन्द्रियलिप्सा अपार अंधकारपूर्ण नरक के लिए खुला हुआ राजपथ है।

संयमोऽपि सदा रक्ष्यो निजकोषसमो बुधैः ।

ततोऽधिकं यतो नास्ति निधानं जीवने परम् ॥ 2

आत्मसंयम की रक्षा अपने खजाने के समान ही करो, कारण उससे बढ़ कर इस जीवन में कोई निधि नहीं है।

सम्यग्बोधेन यः प्राज्ञः करोतीच्छानिरोधनम् ।

मेघादिसर्वकल्याणं प्राप्त्यते स सदाशयः ॥ 3

जो पुरुष ठीक तरह से समझ बूझकर अपनी इच्छाओं का दमन करता है उसे

मेघादिक सभी सुखद वरदान प्राप्त होंगे।

इन्द्रियाणां जयो यस्य कर्तव्येषु च शूरता ।

पर्वतादधिकास्तस्य प्रभावो वर्तते भुवि ॥ 4

जिसने अपनी समस्त इच्छाओं को जीत लिया है और जो अपने कर्तव्य से पराङ्मुख नहीं होता, उसकी आकृति पहाड़ से भी बढ़कर प्रभावशाली होती है।

नप्रता वर्तते नूनं सर्वेषामेव भूषणम् ।

पूर्णाशैः शोभते किन्तु धनिके विनयान्विते ॥ 5

विनय सभी को शोभा दती है, परं पूरी श्री के साथ श्रीमानों में ही खुलती है।

संयम्य करणग्रामं कूर्मोऽङ्गानीव यो नरः ।

वर्तते तेन कोशो हि संचितो भाविजन्मने ॥ 6

जो मनुष्य अपनी इंद्रियों को उसी तरह अपने में खींच कर रखता है, जिस तरह कछुआ अपने हाथ-पाँव को खींचकर भीतर छुपा लेता है, उसने अपने समस्त आगामी जन्मों के लिए खजाना जमा कर रखा है।

अन्येषां विजयो माऽस्तु संयतां रसनां कुरु ।

असंयता यतो जिह्वा वह्यायैरधिष्ठिता ॥ 7

एकमेव पदं वाण्यामस्ति चेन्मर्मधातकम् ।

विनष्टस्तहिं विज्ञेया उपकाराः पुराकृता ॥ 8

दग्धमङ्गां पुनः साधु जायते कालपाकतः ।

कालपाकमपि प्राज्ञ न प्रोहति वाक्क्षतम् ॥ 9

और किसी को चाहे तुम मत रोको, परंतु अपनी जिह्वा को अवश्य लगाओ, क्योंकि बेलगाम की जिह्वा बहुत दुःख देती है। 7 यदि तुम्हारे एक शब्द से भी किसी को कष्ट पहुँचता है तो अपनी सब भलाई नष्ट हुयी समझो। 8 आग का जला हुआ तो समय पाकर अच्छा हो जाता है परं वचन का घाव सदा हरा बना रहता है। 9

पश्य मर्त्यं जितस्वान्तं विद्यावन्तं सुमेधसम् ।

यद्वर्णनाय तद्रेहोतो धर्मित्वसाधुते ॥ 10

उस मनुष्य को देखो जिसने विद्या और बुद्धि प्राप्त कर ली है। जिसका मन शांत और पूर्णतया वश में है। धार्मिकता तथा अन्य सब प्रकार की भलाई उसके घर इसका दर्शन करने के लिए आती है।

परम आत्म शोधन-साम्यभाव, पर्यावरण संरक्षण, विश्व विज्ञान-विश्व शांति की जीवन्त प्रयोगशाला : जैन श्रमण

जैन श्रमण के विश्वास, विवेक, लक्ष्य, आचरण, कथन आदि रुढ़ि, परम्परावादी, संकीर्ण, अंधविश्वास, संकीर्ण-स्वार्थनिष्ठ, भौतिकवादी, out of date, अप्रासङ्गीक, अनुपयोगी न होकर परम आत्मशोधक, सत्यनिष्ठ, समताभावी, उदार, वैश्विक, सार्वभौम, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी पर्यावरण संरक्षक, परमवैश्विक विज्ञान, नित्यनूतन, नित्य पुरातन/शाश्वतिक, स्व-पर विश्व के अनन्त कल्याणकारी है। उनके बाह्य तप-त्याग-क्रिया-काण्डों से भी उनके अन्तरङ्ग लक्ष्य, भावादि अति महत्वपूर्ण, उपादेय, ग्रहणीय है। जिस प्रकार कि भौतिक वैज्ञानिक भौतिक प्रयोगशाला में प्रयोग करके शोध-बोध, अविष्कार आदि करते हैं, उसी प्रकार जैन श्रमण स्व प्रयोगशाला (स्व-आत्मा, मन-वचन-शरीर, व्यवहार) से लेकर समाज, पर्यावरण, पृथ्वी, विश्व में प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार एक सच्चा वैज्ञानिक सन्म्र-सत्यग्राही होकर संकीर्णता से रहित होकर पंथ-मत-राष्ट्र आदि की सीमा से परे होकर शोध-बोध आदि करता है उससे भी अधिक व्यापक लक्ष्य को लेकर एक सच्चा श्रमण सतत सर्वाङ्गीनी रूप से श्रम करते हैं। इसलिए तो उन्हें जैन श्रमण कहते हैं। जैन का अर्थ है - विजयी। जो अन्धश्रद्धा/मिथ्याग्रह, मिथ्याज्ञान, असदाचरण, कषाय, इंद्रिय आदि के ऊपर विजय प्राप्त करते हैं उन्हें जैन कहते हैं। इस जैनत्व गुण के साथ-साथ समता भाव से सतत सत्य की उपलब्धि तथा स्व-पर-विश्व-कल्याण के लिए जो श्रम करते हैं उन्हें जैन श्रमण कहते हैं। इसलिए तो जैन श्रमण को साधु, मुनि, आत्मविद्या विशारद, विश्वविद्या विशारद, मुमुक्षु, आत्म-साधक, ऋषि, तरण-तारण, निस्पृही, वितरागी, निर्ग्रन्थ आदि नाम से अभिहित किया जाता है। इसलिए उन्हें - “अवाक् निसर्ग वपुषा मोक्षमार्गं प्रगटयति/प्रदर्शयति/कथयति” अर्थात् श्रमण के शरीर/आचरण ही मोक्षमार्ग का अथक रूप से मौन पूर्वक कथन करते हैं। अर्थात् इनके आचरण ही उपदेश है, आदर्श है, संदेश है, खुली पुस्तक है। जैन धर्म के समस्त तीर्थकर क्षत्रिय राजकुमार या राजा-महाराजा-चक्रवर्ती हुए हैं। अधिकांश श्रमण भी राजकुमार, राजा-महाराजा, कामदेव (विश्वसुंदर), शलाकापुरुष (युगपुरुष, श्रेष्ठपुरुष), सेठ-साहुकार, मंत्री, सेनापति, न्यायाधिश, कोषाध्यक्ष, सामान्य प्रजा से लेकर चक्रवर्ती सम्प्राट हुए हैं। उन्होंने गृहस्थावस्था में उपर्युक्त भूमिका के अनुसार कार्य करते हुए भी वह कार्य नहीं कर पाते थे जो श्रमण होकर कर पाते हैं। अर्थात् सत्य की उपलब्धि, स्व-पर-विश्व-कल्याणादि। गृहस्थावस्था में जो सम्प्राट/

चक्रवर्ती भी नहीं कर पाते थे वही सर्वसत्ता, सम्पत्ति त्याग करके श्रमण बनकर कर पाते थे। इतना ही नहीं एक सामान्य व्यक्ति भी श्रमण बनकर सम्प्राट से भी श्रेष्ठ कार्य कर पाते थे। इसलिए तो राजकुमार गौतम (बुद्ध), जैन तीर्थकर (सब राजवंशी), उपनिषद के ऋषि याज्ञवल्क्य आदि राजा सत्ता-सम्पत्ति आदि को त्याग करके संन्यासी बने।

जैन श्रमण के समस्त मूलगुण-उत्तरगुण, ब्रत, नियम आदि उपर्युक्त महान् उद्देश्य के लिए होते हैं। परंतु इस संक्षिप्त लेख में उनमें से कुछ ब्रतादि का वर्णन कर रहा हूँ। जिससे उनकी महत्ता का दिग्दर्शन हो। विशेष जिज्ञासु मेरी 1) जैन साधु का नमत्व एवं केशलोंच, 2) श्रमण संघ संहिता का अध्ययन करे।

1) भावशुद्धि :- “जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे” “स्व-दोष शांत्या विहीतात्म शांतिः” आदि महानतम् सूत्रों में अंतरंग-बहिरंग व्यक्ति, समूह, पिण्ड, ब्रह्माण्ड की शुद्धता-सुरक्षा-समृद्धि के उपाय बताये गये हैं। भाव अशुद्धि के कारण जीव में अंधश्रद्धा, हिंसा, अब्रह्यर्चर्य, परिग्रह, व्यसन, असंयम, अनुशासन विहीनता, अनर्थदण्ड, असावधानी आदि दोष उत्पन्न होते हैं जिससे समस्त प्रकार के प्रदूषण फैलते हैं तथा पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। अशुद्ध भाव से शरीर के विभिन्न ग्रन्थियों से जो रासायनिक स्राव निकलता है वह शरीर, मन, इंद्रियों को अस्वस्थ, दुर्बल, प्रदूषित बनाता है तथा अशुद्ध भावात्मक तरंगे भी अदृष्ट, सूक्ष्म परंतु प्रभावशाली रूप से पर्यावरण को प्रदूषित करती है।

अभी तक वैज्ञानिक, पर्यावरण विद्वान् जो जल, मृदा, वायु, शब्द आदि प्रदूषण के बारे में शोध-बोध, प्रचार-प्रसार कर रहे हैं वह सब अत्यन्त स्थूल; उथला है। इनके द्वारा प्रतिपादित पर्यावरण सुरक्षा के उपाय भी स्थूल, उथले, अवैश्विक, अशाश्वतिक हैं परंतु भारतीय महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिकों, तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित भावात्मक प्रदूषण तथा उससे जायमान समस्त प्रदूषण एवं पर्यावरण सुरक्षा के उपाय शाश्वतिक, सार्वभौम है जिसे जैन-श्रमण श्रद्धा-विवेक-आचरण में लाते हैं।

2) अहिंसा :- “अहिंसा परमो धर्मः” “अहिंसत्वं च भूतानाममृततत्त्वाय कल्पते” “अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम्” “अहिंसा परमं सुखम्” “जिओं और जिने दों” आदि सूत्र पर्यावरण संरक्षण के तरिकों को बताते हैं। इन सूत्रों से सिद्ध होता है कि जीवों की सुरक्षा ही परम धर्म है, अमृत है, परम ब्रह्म है, परम सुख स्वरूप है। जैन धर्मानुसार 1) पृथ्वीकायिक 2) जलकायिक 3) अग्निकायिक 4) वायुकायिक 5) वनस्पतिकायिक आदि एकेंद्रिय स्थावर जीव है तथा 6) लट आदि द्वीन्द्रिय 7) चीटी आदि त्रीन्द्रिय 8) मक्खी आदि चतुर्तीन्द्रिय 9) मनुष्य, पशु-पक्षी, मछली आदि पञ्चेन्द्रिय त्रस जीव है। इन सबको क्षति नहीं पहुँचाना अहिंसा है। भारतीय परंपरागत में जो वृक्ष, नदी, पर्वत, जल, सूर्य, पृथ्वी आदि की पूजा की जाती है, उसका मुख्य उद्देश्य इन

सबकी सुरक्षा-समृद्धि है। जैन मुनि समस्त प्रकार की हिंसा से निवृत्त होते हैं। यथा - हे भगवान् ! प्रथम महाब्रत में संपूर्ण जीवों के घात का मैं आजीवन के लिए तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन, काय से त्याग करता हूँ। वे एकेद्विय, दोइंद्रिय, तीनइंद्रिय, चार इंद्रिय, पश्चेंद्रिय जीव तथा काय की अपेक्षा पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस कायिक जीव अंडज, पोतज, जरायुज, रसायिक, संस्वेदिक, समूच्छिम, उद्देदिया, उपपादिम, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, विकलत्रय, वनस्पतिकायिक, पश्चेंद्रिय जीव एवं पृथ्वीकायिक से वायुकायिक पर्यन्त पर्याप्त, अपर्याप्त और चौरासि लाख योनि के प्रमुख जीवों के प्राणों का घात न स्वयं करे, प्राणों का घात न दूसरों से करोवे अथवा प्राणों का घात करने वाले न अन्य की अनुमोदना करे। हे भगवान् ! उस प्रथम महाब्रत में तत् संबंधी अतिचारों का त्याग करता हूँ, अपनी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, हे भगवन् अतीत काल में उपर्जित जो भी मैंने राग से, द्वेष से अथवा मोह से वशीभूत होकर उपर्युक्त जीवों में किसी भी जीव के प्राणों का घात स्वयं किया हो, अन्य से करवाया हो अथवा प्राण का घात करने वाले अन्य जीवों की अनुमोदना की हो तो उन सर्वदोषों का मैं त्याग करता हूँ।

स्व-पर को किसी भी कारण से कष्ट/क्षति नहीं पहुँचाना (अ+हिंसा, अ=नहीं, हिंसा=हानि/क्षति/विकृति) है। स्व-पर-प्रति पूर्वोक्त दोषों से रहित भाव होना भाव अहिंसा है, और भाव अहिंसा सहित स्व-पर का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमति से क्षति नहीं पहुँचाना द्रव्य अहिंसा है। इससे स्व-पर की समग्रता से सुरक्षा, समृद्धि होती है। स्व तथा भाव अहिंसा होने पर ही, स्व-पर तथा द्रव्य अहिंसा का पालन हो सकता है। अहिंसा के कारण राग-द्वेष, अपना-पराया, भेद-भाव, ऊँच-नीच, ईर्ष्या-कलह, युद्ध, आतंकवाद, हत्या, आक्रमण आदि का अभाव हो जाता है, जिसके कारण विश्व में सुख-शांति-समृद्धि होती है। इसीलिए “अहिंसा परमो धर्मः,” “अहिंसामृतम्” है। इससे ‘सह अस्तित्व’ ‘सहयोग’ ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ ‘जीओ और जीने दो’ ‘पर्यावरण सुरक्षा’ ‘पारिस्थितिकी सिद्धान्त’ को बल मिलेगा, जिससे विश्व की समस्या स्वरूप बिखराव, भेदभाव, संकीर्ण-कट्टर राष्ट्रवाद, धर्मोन्माद के कारण जायमान हिंसा, आतंकवाद, राष्ट्रीय गृह कलह से लेकर विश्व युद्ध, पर्यावरण असन्तुलन से जायमान अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बवण्डर, चक्रवात, अकाल, बाढ़, मृदा-जल-वायु-ध्वनि-भाव प्रदूषण दूर होंगे।

3) सत्य :- सत्य ही सार्वभौम, सार्वकालिक, त्रैकालिक अबाधित होने के कारण समस्त विश्व से लेकर राष्ट्रीय, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, स्थिति, समृद्धि, शांति भी सत्य में निहित है। वस्तु स्वरूप, स्वशुद्ध आत्मस्वरूप सत्य होने के कारण सत्य में किसी भी प्रकार की विकृति, समस्या संभव नहीं है। निश्चयतः स्व-आत्म स्वरूप में

स्थित होना परम सत्य है जिसे मोक्ष, निर्वाण, ईश्वरत्व कहते हैं। व्यवहारतः दूसरों की सत्ता, सम्पत्ति, विभूति, प्रसिद्धि, बुद्धि, कृति, जमीन आदि का अनैतिकतापूर्वक अपना नहीं मानना एवं नहीं बनाना भी सत्य है। दूसरों की सत्ता, सम्पत्ति आदि को स्वीकार करना एवं मान्यता देना भी सत्य है। पूर्वोक्त दोषों से रहित होकर यथार्थ स्वरूप को स्वीकार करना सत्य है। इससे व्यक्तिगत कलह, तनाव से लेकर राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय कलह, तनाव, कानूनी लडाई, वैमनस्य, पक्षपात आदि समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। सत्य के शोध-बोध आदि से भौतिकज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, खगोल, भूगोल से लेकर आध्यात्मिक परम विज्ञान का ज्ञान भी जैन श्रमण करते हैं।

4) अचौर्य :- दूसरों की सत्ता, सम्पत्ति का अनैतिक रूप से बलात् या धोखाधड़ी से स्व-अधिकार में नहीं करना अचौर्य है। इससे चोरी, डकैती, भ्रष्टाचारी, मिलावट, घोटाला, घुसपैठ, घूसखोरी, अपहरण, दूसरे देश पर आक्रमण, सैल्सटैक्स-इनकमटैक्स चोरी, कर्तव्य चोरी आदि समस्यायें दूर हो जाती हैं।

5) अपरिग्रह :- आध्यात्मिक दृष्टि से स्व-आत्म द्रव्य को छोड़कर अन्य किसी चेतन-अचेतन द्रव्य को ग्रहण करना अनेतिक चेतन-अचेतन द्रव्यों को ग्रहण करना, अति संग्रह करना, अति लालसा या गृद्धता रखना परिग्रह है। उपरोक्त परिग्रह से विपरीत अपरिग्रह है अर्थात् निश्चय से स्व-शुद्ध आत्मा ही अपरिग्रह है और व्यवहारतः आवश्यक वस्तु को छोड़कर अन्य वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना अपरिग्रह है। इससे गरीब-अमीर, शोषक-शोषित, मजदूर-पूंजीपति, नौकर-मालिक, शोषण-मिलावट, चोरी, डकैती, बेर्इमानी, रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, महंगाई, अभाव, भूखमरी आदि समस्यायें संभव ही नहीं होती हैं।

जैन श्रमण का अपरिग्रहवाद पूर्ण आध्यात्मिक, नैतिक, साम्यवाद, समाजवाद है। इसके लिए किसी प्रकार बल-प्रयोग, हिंसात्मक कार्यवाही की आवश्यकता ही नहीं होती क्योंकि यह सब स्वेच्छा से, आत्म प्रेरणा से करते हैं। परिग्रह के कारण जायमान बड़े-बड़े उद्योग, फैक्ट्री, यान-वाहन से उपजी ध्वनि-वायु-जल-मृदा प्रदूषण, ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन परत में छेद, कृत्रिम तापमान की वृद्धि आदि समस्याएँ नहीं होती हैं।

6) ब्रह्मचर्य :- ब्रह्म यानि आत्मा में रमण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्याणुब्रत में स्व-स्त्री या स्व-पुरुष से मर्यादित, नैतिक संभोग करना ब्रह्मचर्याणुब्रत है। इससे अब्रह्मचर्य से जायमान जनसंख्या वृद्धि, एड़स रोग आदि बीमारियाँ दूर होती हैं। जनसंख्या वृद्धि से उपजी अनेक समस्याएँ यथा- निवास, यातायात, भोजन, पानी, शिक्षा, स्वास्थ्य, कुपोषण आदि का भी निराकरण होता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने पंचशील को अभ्युदय एवं मोक्ष का कारण कहा तो

पाँच पापों को “दुःखमेव वा” अर्थात् पाँच पाप दुःख स्वरूप ही हैं - कहकर संक्षिप्ततः विश्व की सभी समस्याओं को गर्भित कर लिया था।

7) समिति :- सावधानिपूर्वक जीवों की सुरक्षा करते हुए स्वकर्तव्यों का पालन करना समिति है। 1) ईर्या समिति में सूर्य के प्रकाश में जीवों की दया करते हुए चलने का विधान है। 2) भाषा समिति में हित-मित-प्रिय बोला जाता है। इससे शब्द प्रदूषण, परस्पर कलहरूपी प्रदूषण नहीं होता है। 3) एषणा समिति में शुद्ध सात्त्विक, शाकाहार, फलाहार, दुग्धाहार का सेवन होता है जिससे जीवों की हत्या नहीं होती और शारीरिक मानसिक रोग भी नहीं होते हैं। 4) आदन निक्षेपण समिति में हर वस्तु की देखभाल कर जीवों की सुरक्षा करते हुए उठाना, प्रयोग करना एवं रखना है। 5) उत्सर्ग समिति में नगर, ग्राम, रास्ता, पशु-पक्षी के निवास, वृक्ष, बगीचा, जीव-जन्तु से रहित निर्जन एकान्त गुह्य स्थान में मलमूत्र, गंदगी, अपशिष्ट को विसर्जन करना होता है। इससे ग्राम आदि में प्रदूषण, गंदगी, जीवाणु नहीं फैलते। इससे पर्यावरण की सुरक्षा, स्वच्छता होती है।

जैन श्रमण के विभिन्न गुण-धर्म का रूपक-अलंकारात्मक वर्णन निम्नोक्त प्रकार से आचार्य वीरसेन ने जय धमला में किया है-

सिंह गज वृषभ मृगपशु मारूत सूर्योदधि मन्दरेन्दु मणयः ।

क्षिति उरगाम्बर सदृशाः परमपद विमार्गका साधवः ॥

परम पद के अन्वेषक साधु 1) सिंह के समान सहासी, वीर, पुरुषार्थी 2) हाथी के समान बलवान् 3) वृषभ के समान भद्र 4) मृग पशु के समान शाकाहारी, शांत, सरल 5) वायु के समान निसंग, सर्व जीवोपकारी 6) सूर्य के समान तेजस्वी, प्रकाशमान, विश्वबंधु, निर्बाध गतिशील 7) समुद्र के समान गंभीर, विस्तृत, रत्नाकर, अगाध 8) सुमेरु के समान अविचल, विशाल 9) चंद्र के समान शीतल, प्रकाशवान् 10) मणि के समान बहुमूल्य, अभंगुर 11) पृथ्वी के समान क्षमावान, सहिष्णु रत्नगर्भा 12) सर्प के समान अनियतवास, निस्पृह 13) आकाश के समान अनन्त, सर्वव्यापी, निर्मल, सब को अवकाश देने वाले होते हैं। अर्थात् “उदार पुरुषाणां वसुधैव कुटुम्बकम्” के अनुसार विश्व बंधुत्व के पक्षधर, उदार होते हैं।

ऐसे महान्, उदार, उदात्त गुणों से युक्त जैन श्रमण किसी भी पंथ-मत, परम्परा, जाति, क्षेत्र, राष्ट्र के नहीं होते हैं। वे किसी के भी नहीं होते हैं परंतु वे सब के होते हैं, उन का कोई नहीं परंतु सब उनके होते हैं। ऐसे सत्य, समता, शांति की जीवन्त मूर्ति साधु को भी अन्य लोग उसी रूप में स्वीकार करें न कि किसी संकीर्ण दृष्टि से, विकृत रूप में।



आचार्य श्री कनकनंदी द्वारा स्थापित धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान को इस संस्थान के कार्यकर्ता श्रीमती लक्ष्मी गुरुचरणदास जैन (वकील बम्बई हाईकोर्ट) ने अनन्त चतुर्दशी के उपलक्ष में लेपटाप कम्प्यूटर प्रदान करते हुए सागवाडा (राज.) 2006



आचार्य श्री कनकनंदी जी किरीट दफ्तरी (अध्यक्ष जैना अमेरिका), डॉ. पारसमल अग्रवाल (रिटायर्ड प्रो. भौतिक विज्ञान, ओकलाहोम स्टेट विश्वविद्यालय यू.एस.ए.), प्रो.डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. नारायणलाल कच्छारा, डॉ. प्रमिला दफ्तरी अमेरिका से धर्म, विज्ञान तथा जैन एकता सम्बन्धी चर्चा करते हुए (सागवाडा)

आचार्य श्री द्वारा लिखित शोधपूर्ण ग्रंथ प्राप्ति के लिए संपर्क सूत्र :-

धर्म दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा :- श्री छोलाल जी चित्तोडा, चंद्रप्रभ दि. जैन मंदिर आयड,

आयड बस स्टॉप के पास, उदयपुर - 313001 (राज.)

फोन :- (0294) 2413565

